मैं ने कहा....!

मैं ने कहा....!

शिष्ट सामाजिक हास्य एवं चुभते हुए साहित्यिक और राजनैतिक व्यंग्य-विनोदों से परिपूर्ण पन्द्रह मौलिक तथा सचित्र निबन्धों का संग्रह

लेखक

श्री गोपालप्रसाद व्यास

१९५१

आत्माराम एण्ड सन्स

पुस्तक प्रकाशक तथा विक्रेता

कश्मीरी गेट

दिल्ली ६

प्रकाशक
रामलाल पुरी
आत्माराम एण्ड सन्स,
कश्मीरी गेट, दिल्ली

चित्रकार
श्री अनवर अहमद

मूल्य ३)

मुद्रक
गोपीनाथ सेठ,
नवीन प्रेस, दिल्ली

अपने उन मित्रों को
जो तुलसीदासजी के शब्दों में
प्रथम वन्दना के अधिकारी हैं

मैंने कहा....!

मेरा जन्म वहाँ (परासौली-मथुरा में) हुआ, जहाँ महाकवि महात्मा सूरदास ने हिन्दी का सर्वोत्कृष्ट काव्य 'सूरसागर' रचा; मेरी जन्म-तिथि (माघ शुक्ला दशमी) भी वह थी, जिस दिन छायावाद के प्रवर्तक महानाटककार प्रसादजी ने जन्म लिया और संवत् १६७२ को ईसवी सनों में फैलाइए तो ज्ञात होगा कि इतिहास में उस महान् वर्ष का कितना महत्व है !

मेरी जीजी कहा करती थीं कि जब मैं गर्भ में ही था, तब एक महात्मा उनके द्वार पर आये थे और कह गये थे कि तेरा यह बालक बड़ा 'प्रतापी' होगा।

भगवान् श्री कृष्ण की तरह जब सात वर्ष का हुआ तो गोवर्द्धन पर्वत की तलहटी छोड़कर मथुरा आ बसा।

पढ़ाई के दर्जे तो छः ही पास किये, लेकिन तैरने, कुश्ती लड़ने, लाठी चलाने, चौपड़ खेलने और सबसे बाद में कवित्त-सवैये पढ़ने में आस-पास काफी नाम कमा लिया। पिताजी की इच्छा के अनुसार कम-से-कम 'मैट्रिक' भी पास न कर सका तो क्या, कबड्डियों के बड़े-बड़े पाले जीत लिये और रामलीला में सीता, लक्ष्मण और राम के पार्ट कर-करके मथुरावासियों से वर्षों तक हाथ जुड़वाता रहा, शीश झुकवाता रहा और जय-जयकार करवाता रहा।

रोज़ी ८) महीने की कंपोज़ीटरी से प्रारम्भ की। मशीनों में स्याही भी दी और कागज भी लगाया। सत्यनारायण की कथा भी बाँची और ट्यूशन से लेकर सशुल्क प्रवचन भी किये।

आगरा में जब पागलखाना चल निकला तो मैं भी वहाँ पहुँचा और वहाँ के मासिक 'साहित्य-सन्देश' से अपना साहित्यिक जीवन प्रारम्भ किया।

'भारत छोड़ो' आन्दोलन के साथ-साथ मुझे आगरा छोड़ना पड़ा। तब कुछ महीने इटावा रहा। इटावा में जमकर गायत्री मंत्र का जाप किया; महाभारत, बाल्मीकि रामायण और श्रीमद्भागवत के पारायण किये। महाकवि देव की इस नगरी में ही कविता मुझ पर प्रसन्न हुई। हास्यरस लिखना यहीं से प्रारम्भ हुआ।

ये हास्यरस की रचनाएँ ही 'दिल्ली चलो' आन्दोलन के जमाने में दिल्ली ले आईं। इनकी ही बदौलत एक कंपोजीटर ('उप' ही सही) 'हिन्दुस्तान' का सम्पादक बना।

पद्य में जो हास्यरस की कविताएँ लिखीं वे 'अजी सुनो' के रूप में संगृहीत हैं। गद्य में जो व्यंग्य-विनोद लिखा, वह इस पुस्तक के रूप में आपके सामने है।

इस प्रकार, अगर कोई दुर्घटना नहीं हुई तो लक्षण मेरे सब बड़े 'प्रतापी' बनने के हैं, आगे मर्जी भगवान की!

बस, इसके सिवाय भूमिका में मुझे और कुछ नहीं कहना। व्यक्ति का परिचय मैंने दे दिया, कृति अपना स्वयं देगी।

'हिन्दुस्तान', नई दिल्ली
पहली अप्रेल, १९५१ — गोपालप्रसाद व्यास

क्रम

झूठ बराबर तप नहीं !

"हमारे शास्त्रों में लिखा है कि जब तक जान जाने का खतरा न हो, तब तक झूठ नहीं बोलना चाहिए । मैं कहता हूँ कि अगर नई दुनिया का शास्त्र मुझे बनाने को कहा जाय तो उसका पहला वाक्य यही होगा कि सच तभी बोलना चाहिए, जब कि जान जाती हो !"

झूठ बोले और पकड़े गये तो धिक्कार है ऐसे दांत घिसने पर ! अरे, झूठ बोलने का मज़ा तो यह है, होशियारी तो इसमें है कि आप झूठ बोलें और सच दिखाई दे । मैं कहता हूँ कि आप झूठ बोलिए और फिर बोलिए, लेकिन भाई मेरे, जरा, सफ़ाई के साथ ! इसीको दुनियादारी कहते हैं, इसी में सफलता छिपी है !"

"बाहर की तो क्या चलाई, घर में, यानी 'उन' से, मतलब अपने लड़के की जन्मदातृ से तो शायद भूलकर सपने में भी मैं सच नहीं बोलता, लेकिन............!"

१

आपका पता नहीं, मैंने तो अपना यह सिद्धान्त बना रखा है कि—

झूठ बराबर तप नहीं, साँच बराबर पाप।
जाके हिरदे झूठ है, ताके हिरदे आप॥

और यकीन मानिए अपने इसी सुनहरे सिद्धान्त की बदौलत दिन-पर-दिन गोल हुआ जाता हूं, और नजर न लग जाये किसी की, बस....सब तरह से पौ बारह हैं!

सच मानिए, झूठ बोलने का बड़ा महात्म्य है। अगर आप ईमानदारी से झूठ बोलना सीख जायँ तो विश्वास कीजिए कि फिर जिन्दगी में आपको कभी मायूस रहने की जरूरत नहीं पड़ेगी। और शर्त लगाकर कह सकता हूँ कि चन्द दिनों की ही कसरत के बाद आपके पास ठाठदार बँगला, शानदार मोटर, चहकता हुआ रेडियो, झुकता हुआ अर्दली यदि खुद न आजाये तो कसम आपकी, मैं आज से ही झूठ बोलना छोड़ सकता हूँ।

मैं कहता हूं, झूठ कौन नहीं बोलता? हमारे पवित्र शास्त्रों में लिखा हुआ है कि यह सारा संसार ही मिथ्या है। माता-पिता, स्त्री, पुत्र-कलत्र सब रिश्ते झूठे हैं। जग-व्यवहार सब मिथ्याचार है! दो-चार सन्त फकीर और गांधी-महात्माओं को छोड़ दीजिए...... दुनिया में इनका पैदा होना न होना हम झूठों की निगाह में कोई अर्थ नहीं रखता। मेरा तो ऐलान है कि प्रजातंत्र के सिद्धान्तों के अनुसार अगर हम सब झूठों को वोट देने का अधिकार प्राप्त हो जाय तो हिन्दुस्तान की एक भी सीट पर कांग्रेसियों का अधिकार नहीं रह सकता। सारी दुनिया में हम झूठों का ही प्रचण्ड बहुमत है,

और इस तरह धरती के एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक वह दिन भी दूर नहीं जब हर जगह हमारी मजबूत सरकारें कायम होने वाली हैं।

दर असल देखिए, दुनिया में और है ही क्या? खाने को तीन छटांक गेहूं, पहनने को तीन गज कपड़ा और बोलने को जी-भर झूठ। राशन और कण्ट्रोल के इस पिछले जमाने में अगर कहीं झूठ भी चोर बाजार में चली गई होती तो झूठ न मानिए, दुनिया से ९९ प्रतिशत आदमी उठ गये होते।

दुनिया का दस्तूर ही ऐसा है कि बिना झूठ के आपकी गाड़ी आगे बढ़ ही नहीं सकती। जिस तरह चटनी के बिना भोजन में स्वाद नहीं आता, रूप के बिना यौवन किरकिरा होता है; इश्क के बिना शायरी फीकी लगती है; उसी तरह बिना झूठ के भी कोई जिन्दगी है? अपनी तो मैं कहता हूं कि जब तक गिनकर दिन में १०१ बार झूठ नहीं बोल लेता...रोटियाँ हजम नहीं होतीं!

हमारे शास्त्रों में लिखा है कि जब तक जान का खतरा न हो, तब तक झूठ नहीं बोलना चाहिए। मैं कहता हूँ कि अगर नई दुनिया का शास्त्र मुझे बनाने को कहा जाय तो उसका पहला वाक्य यही होगा कि सच तभी बोलना चाहिए, जब कि जान जाती हो।

यह बिलकुल झूठ बात है कि पहले जमाने में झूठ बोलने वाले मर जाया करते थे। मैं तो कहता हूँ कि कम-बढ़ ३५ साल का होगया हूं, तब से हजारों क्या लाखों बार झूठ बोलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, पर क्या मजाल, मरें तो मेरे दुश्मन, यहाँ तो सर में दर्द तक नहीं हुआ! और सिर्फ आपसे कहता हूं कि बाहर की तो क्या चलाई, घर में, यानी 'उन' से, मतलब अपने लड़के की जन्मदातृ से तो शायद भूलकर भी कभी सच नहीं बोलता, लेकिन इस पर भी दावा यह है कि आज तक किसी ने मुझे झूठा बनाने का हौसला नहीं किया।

झूठ बोले और पकड़े गये तो धिक्कार है ऐसे झूठ बोलने पर! झूठ बोलने का मजा तो यह है, होशियारी तो इसमें है कि आप झूठ बोलें और सच दिखलाई दे। मैं कहता हूँ कि आप झूठ बोलिए और

फिर बोलिए, लेकिन भाई मेरे, ज़रा सफाई के साथ ! इसीको दुनियादारी कहते हैं, इसीमें सफलता छिपी है।

झूठ बोलना भी एक कला है। एक महान् आर्ट ! इसकी महानता के आगे चित्रकारी के रंग फीके हैं, संगीत का स्वर बेसुरा है और कविता तो है ही निरर्थक !

लोग कहते हैं कि जिसने सत्य को पा लिया उसने परमेश्वर को पा लिया। मैं कहता हूँ जिसने झूठ को पा लिया उसे और कुछ पाना ही शेष नहीं रहा !

झूठ परम तत्व है ! यह अजरामर है ! सनातन है ! निर्विकल्प है ! सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त है। यद्यपि यह भेदाभेद से परे है, फिर भी अभ्यास और साधन के लिए मैंने इसके कुछ भेद किये हैं, जैसे— (१) शुद्ध झूठ और (२) अशुद्ध झूठ। (३) चार सौ बीस और (४) सफेद झूठ शुद्ध झूठ के अन्तर्गत आते हैं। अशुद्ध झूठ के अन्तर्गत (५) बे-सिर-पैर की, (६) मनगढ़न्त, और (७) गप्पों का बाहुल्य होता है। देश-काल, अवस्था और समय-संयोग के अनुसार इसके सैकड़ों प्रकार होते हैं, पर यहाँ स्थान-संकोच से उनका वर्णन नहीं किया जा सकता। फिर आज यह विषय घर-घर में वर्तमान है और हिन्दुस्तान के ३३ करोड़ देवी-देवता इसके सम्बन्ध में नित्य नये अनुसंधान कर रहे हैं, इसलिए अभी से इस शास्त्र को लिपिबद्ध करना, इसकी बढ़ती को रोकना भी है।

आजकल बिना झूठ के यह शरीर रूपी गाड़ी जीवन रूपी दलदल को पार नहीं कर सकती। उदाहरण के लिए मान लीजिए कि आप किसी दफ्तर में बाबू हैं। बाबू भी ऐसे कि नेकनीयती के सबूत में फाइलों पर झुकते-झुकते आपकी गर्दन खम खागई है। लेकिन अब आपको चार दिन की छुट्टी चाहिए। निहायत जरूरी काम आ पड़ा है। काम ऐसा नहीं कि जिसे टाला जा सके। आपकी पत्नी के भाई के लड़के को जुकाम हुआ है। हरदम छींकता रहता है ! आपकी 'उन' के भाई-भावज सब परेशान हैं ! उनके मैके से आने वाले ख़त अकसर छींकों से भरे रहते हैं। 'उन' का कहना है कि इस हालत में अगर आप बच्चे को देखने नहीं जायेंगे तो रिश्तेदारी में नाक कट जायगी !

आदमी को अपनी नाक का ख्याल नहीं रहा तो भला वह भी कोई आदमी है ! लेकिन आदमियत के इस सच्चे मसले को आप अपनी अर्जी में लिखकर बड़े बाबू को भेज तो दीजिए ? लिखना छोड़ सकता हूँ अगर आपकी अर्जी इस जन्म में तो क्या अगले सात जन्मों में भी मंजूर होकर आजाय !

ऐसी जगह पर आपको फन खेलना ही पड़ेगा। जैसा कि अक्सर मैं और मेरे साथी बाबू किया करते हैं, आप पड़ौसी डाक्टर के पास जायेंगे और दो रुपये का एक बिना दस्तखती नोट उसके हवाले करते हुए कहेंगे—"डियर डाक्टर, एक सार्टीफिकेट तो बना दो।" आपका डाक्टर भी इस फन में कम होशियार नहीं है। लिखेगा, "ऐसा मालूम होता है कि बाबू को ज़ोर से सर्दी का अटेक (हमला) हुआ है। दोनों फेफड़े भरे हैं। परहेज, इलाज और आराम की इन्हें सख्त जरूरत है।"

और यह लीजिए आपने मैदान मार लिया। दुअन्नी किसी लड़के को देकर अर्जी को दफ्तर रवाना कीजिए और आप ससुराल का टिकट कटाइए। अगर ससुराल का पानी लग जाय और "श्वसुर-गृह निवासं स्वर्ग-तुल्यं नृणानाम्" पर तबियत मचल जाय तो दो रुपया डाक्टर के नाम और सही ! फिर लगाइए एक सप्ताह का गोता ! कोई पनडुब्बी आपको नहीं खोज सकती और कोई सच्चा इस महान् सच को झूठ नहीं मान सकता।

सफेद झूठ का उदाहरण

पिछले जून के महीने में जब मैं बच्चों के साथ घर से वापस दिल्ली लौट रहा था तो मुझसे भी ज्यादा किसी होशियार ने मेरी जेब से मनीबेग साफ कर दिया। टिकट, रुपये सब कुछ-उसीमें थे। नई दिल्ली स्टेशन पर उतरा तो होश फाख्ता ! कुली सामान लेकर गेट की ओर चल रहा था, बीवी-बच्चे दिल्ली लौट आने से खुश थे ! पर मेरी अँगुलियाँ जेबों को फाड़े डाल रही थीं और चेहरे पर हवाइयाँ उड़ रही थीं कि हाय राम, अब क्या होगा ?

दो तीन मिनट इसी गम में डूबा रहा कि टिकट का चार्ज तो दूर इस कुली को भी आखिर क्या दिया जायगा ? लेकिन जिन्दगी-भर जिस झूठ को गले लगाया था आखिर उसने उबार ही तो लिया ! मैं

आगे-आगे हो लिया। गेट पर आकर टिकट कलक्टर को सुनाते हुए श्रीमतीजी से बा-अदब कहा, "आइए, इधर से आइए! क्यों, भाईसाहब साथ में नहीं आये ? मुझे तार तो तुम्हारा मिल गया था, रास्ते में कोई तकलीफ तो नहीं हुई ?"

श्रीमतीजी यह रंग-ढंग देखकर पहले जरा अचकचाईं तो, लेकिन आखिरकार तो मुझ प्रमाणित झूठे की बीवी थीं। फौरन सँभलकर मुझसे भी सवा सेर होकर बोलीं, "उनके कोर्ट में ज़रूरी मुकदमा था, कहने लगे—तार तो दे ही दिया है स्टेशन पर जीजाजी आ ही जायेंगे, चली जाओ। पर गाड़ी में आजकल बड़ी भीड़ रहती है। सैकिण्ड क्लास में भी आदमी का भुरता बन जाता है !"

टिकिट कलक्टर बेचारा रौब में आ गया। उसने समझा किसी जज की बहन हैं और मुझ कांग्रेसी एम० एल० ए० को ब्याही हैं। टिकट मांगना तो दूर, अदब से एक तरफ हटकर खड़ा होगया ! जान बची और लाखों पाये।

मेरा खयाल है कि अगर मैं सचाई से काम लेता तो मारा जाता। लेकिन यह झूठ बोलने का प्रताप था कि शान बच गई। इसीलिए तो कहता हूं कि झूठ बराबर तप नहीं !

मेरी पत्नी भली तो है लेकिन....!

"...वे लाखों से भली हैं, नेक हैं, खुशदिल हैं और उदार प्रकृति की भी हैं, लेकिन तभी तक, जब तक कि मैं उनकी समझ के दायरे के अन्दर बिना कान-पूँछ हिलाए चलता जाता हूँ। अगर कहीं उनकी खींची हुई लक्ष्मण-रेखा का अतिक्रमण करके अपने "पत्नीव्रत धर्म" से मैं ज़रा भी डिगता हूँ तो समझ लीजिए कि मेरी भी पुश्तैनी रियासत पर सरदार पटेल की नज़र पड़ गई है!"

"अब तो खरीदे हुए घोड़े की तरह, बिना कान-पूँछ हिलाये मुझे उनके पीछे-पीछे ही चलना है.................. क्योंकि डोरी मेरी उनके ही हाथ में है!"

२

किसी और की बात मैं नहीं जानता, लेकिन मैं तो सचमुच ही अपनी पत्नी का अत्यंत कृतज्ञ हूं। यों जन्म मुझे अपनी मां से मिला, पालन-पोषण और संस्कार भी उन्हींसे प्राप्त हुए, पर इस बात को आज सबके सामने स्वीकार करने में मुझे ज़रा भी झिझक नहीं होती कि जहां तक मेरे आदमी बनने का प्रश्न है, वह मुझे मेरी "बहूमाता" ने ही बनाया है !

'वे' न होतीं तो मैं आज कहीं का होता ? आज उन्हींकी कृपा से मैं एक लम्बे-चौड़े कुटुम्ब का जीजा और फैले-पूरे घने बसे हुए एक मुहल्ले-भर को साला बनाने योग्य हुआ हूँ। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि अगर मेरे पूज्य पिताजी ने मेरी शादी न करने का फैसला, बिना मुझसे पूछे ही कर लिया होता तो यकीन मानिए कि कवि, लेखक और पत्रकार बनना तो दूर, मैं तो स्वयं अपने बच्चों का पिता भी बनने से रह जाता ! यह सब-कुछ उन्हींका प्रसाद है कि समाज में आज मेरे लिए भी पैर रखने को जगह है, सोसाइटी में कभी-कभी मुझे भी सभ्य समझ लिया जाता है और सबसे बड़ी बात यह कि दिल्ली में रहने को एक टीन भी किसी कदर किराये पर मिली हुई है।

क्या बात कहूं मैं उनकी ? भगवान हजारी उम्र करे, 'वे' सचमुच इतनी भली हैं कि जब से हुजूर ने हमारे घर को रौनक-अफ़रोज़ फरमाया है हमें तो सिर्फ आराम के. करने को कुछ काम ही नहीं रह गया है। झाड़ा-बुहारा घर, धुले-धुलाए कपड़े, पका-पकाया खाना, बिछी-बिछाई खाट और बिना मांगे पानी जब आदमी को अनायास ही मिलने लगे तो उसे महाकवि घाघ के शब्दों में "उहां छांडि इंहिवै बैकुण्ठा"

नजर आने लगता है। हमारी क्लीन-शेव सूरत, सजी-संवारी देह और सलीके के कपड़ों को देखकर मित्र लोग हैरान होते हैं कि इस "बछिया के ताऊ" में इतनी अक्ल कब से आगई ? मगर उन्हें यह नहीं मालूम कि यह तो किसी और ही का वरद हस्त है, जिसने हमारे ऊपर गिरने वाले गिरि गोवर्द्धन को यों अधर ही में थाम रखा है !

उनके श्री चरणों का सुस्पर्श पाकर, सच कहूं, इस घर की दुनिया ही बदल गई है। घर के बर्तन, कपड़े, फर्नीचर, चित्र, किताबें—यह समझिए कि घूरे-से लगने वाले इस घर का सारे-का-सारा वातावरण ऐसे दमक उठा है, मानो मुंह से बात करने लगा हो ! अब हमें न तो रूमाल की खातिर सारी अलमारी उलट देनी पड़ती है और न कविता के कागजों की तलाश में ताक़ से लेकर कूड़े के कनस्तर तक की दौड़ ही लगानी होती है। हर एक चीज कायदे से, अपने समय पर, इस सफाई और सुन्दरता के साथ स्वयं होती चलती है कि हम तो अपनी होम-गवर्नमेंट की इस शासन-कुशलता पर दंग रह जाते हैं। शादी से पहले जब हम इन्हें पसंद करने गये थे (हालांकि वह हमारी हद दर्जे की बेवकूफी थी) तब तो सपने में भी यह ख्याल नहीं आता था कि इस सीधी-सादी, दुबली-छरहरी, गऊ-सी लड़की में इतनी 'एडमिनिस्ट्रेटिव पावर' और ये-ये गुन भरे होंगे !

परन्तु आप जानते हैं कि आदमी अपनी प्रकृति से बैल और कलाकार नाम का प्राणी वास्तव में बिलकुल बछड़े के समान होता है। अगर दुर्भाग्य से वह कहीं हिन्दी का कलाकार भी हो तो फिर खैर नहीं ! समझो कि करेला है और वह भी नीम चढ़ा हुआ ! इस बिना सींग के पशु को यह समझिए कि बन्धन जरा भी नहीं सुहाते ! उसे घेर-घेरकर खूंटे की ओर लाइए, पर वह उछल-उछलकर उससे वैसे ही दूर भागता है जैसे "हनुमान-चालीसा" का नाम सुनते ही भूत भाग उठते हैं ! यही कुछ हाल मेरा भी समझ लीजिए। वह घेर-घेर कर लाती हैं और मैं बिदक-बिदककर भाग खड़ा होता हूँ !

उन्होंने मेरे आठ पहर चौसठ घड़ी का एक निश्चित "टाइम टेबुल" बनाकर रख छोड़ा है कि ६ बजे उठो और यह भी कोई बात है कि रोज नहाओ, इस वक्त अखबार पढ़ो और इस वक्त चाय पिओ। खाना

ठीक साढ़े नौ बजे, फिर १५ मिनट का 'रैस्ट' और तब सीधे चलो अपने काम पर ! और देखो, दफ्तर से अगर ठीक ५॥ बजे न लौटे तो खैर नहीं ! भूख हो या न हो आते ही नाश्ता, फिर गपशप, रेडियो और ब्यालू। खबरदार, जो रात को ६ बजे बाद धरती पर पैर भी रखा तो ! नींद आये या न आये, घड़ी पर ६० डिगरी का ऐंगिल बनते ही आँखें बन्द कर लेनी पड़ती हैं !

अब भला आप ही बताइए कि विषवत रेखा की पूँछ से बंधे हुए इस गर्म देश में क्या कहीं रात को जल्दी सोया जा सकता है ? या सुबह तड़के जब भीनी-भीनी ठंडी बयार बह रही हो तो कहीं उठने को दिल करता है ? अपनी बात तो मैं कहूं कि सुबह सबेरे जब मैं तीन-तीन तकियों को जांघ, बगल और सिर के नीचे दबाये सोता हुआ जागता हूं या जागता हुआ सोता हूँ, तब मेरे पास, और की तो चलाई क्या, स्वयं नेहरू भी आयें और मुझे खुद अपने हाथों से उत्तर प्रदेश का गवर्नर बनने का निमंत्रण भेंट करने लगें तो भी मैं उस समय खटिया छोड़ने पर किसी भी तरह राजी नहीं हो सकता। उस वक्त या तो मैं जवाब देना ही पसंद नहीं करूंगा, और अगर लाचारी से कुछ कहना ही पड़ा तो बिना आंखें खोले, यही कहूँगा कि जाइए जाइए नेहरूजी, आधी उम्र जेल में गुजारने वाले तुम इस शैया-सुख को क्या पहचानो ? अरे "सो सुख राज में न पाट में जो सुख आये खाट में !" लेकिन आप जानते हैं कि नेहरूजी को नाराज करना आजकल आसान है, पर अपनी लड़की के, भावी लड़के की, होने वाली नानी को नाराज़ करना हंसी-खेल नहीं। क्योंकि एक तो नेहरूजी आसानी से रूठने वाले नहीं और अगर रूठे भी तो अधिक-से-अधिक एक अन्तर्राष्ट्रीय (इन्टरनेशनल) स्पीच दे देंगे। मगर ये जो हमारी दिन में ६६ बार नैहर की ठसक दिखाने वाली नवेली है, यदि कहीं सबेरे-सबेरे रूठ गईं तो समझ लीजिए कि दिन-भर की खैर नहीं !

भगवान झूठ न बोलवाए, पहले हम बहुत सच्चे और नेक आदमी थे ! लेकिन अब उनकी रोज-रोज की सख्ती और समय की पाबन्दी ने नाहक हमें गुनाह करना और झूठ बोलना सिखा दिया है। आप ही कहिए कि दफ्तर से रोज-रोज कहीं सीधे घर आया जाता है ?

कभी कहीं जाने को मन करता है, कभी कहीं ! कभी रास्ते में यह मिल जाते हैं कभी वह। क्लब, गोष्ठी, समाज और रेस्ट्रां की तो बात ही छोड़िए ! कभी-कभी तो सीधे घर जाने के बजाय कबड्डी या गिल्ली-डंडा खेलने को ही मन कर आता है। लेकिन एक हमारी 'ये' हैं कि हमें महीने में दो-चार दिन भी ऐसी छूट देने के लिए तैयार नहीं हैं। परिणाम यह होता है कि हमें आखिर अपनी सदा सहायक झूठ का ही सहारा लेना पड़ता है। कभी कहते हैं कि दफ्तर में काम अधिक था, कभी कहते हैं कि रास्ते में साइकिल पंचर होगई और कभी कहना पड़ता है कि हे जग्गो की जीजी, आज तो बस तुम्हारे ही पुण्य प्रताप से जीता बचा हूं वरना वह 'एक्सीडेंट' हुआ होता कि इस वक्त तो हमारे कारनामे धर्मराज की अदालत में खुल रहे होते !

ऐसी बात नहीं कि स्वयं उनमें इन बातों को सोचने-समझने की अक्ल न हो। घर-बाहर पास-पड़ौस का जो भी उनसे मिलता है, उनकी सूक्ष्म बुद्धि की तारीफ करता नहीं अघाता और हमें भी उनके पीठ-पीछे यह मान लेने में कोई एतराज नहीं कि जहां तक तुलना का प्रश्न है, यह जो बुद्धि नाम की वस्तु है, दर असल उनके हिस्से में, ईश्वर के पक्षपात से, हमसे अधिक ही आई है। लेकिन इसका मतलब यह तो नहीं है कि हम निरे बुद्धू ही हैं ! पर क्या कहें, वे मुंह से तो कभी इस मनहूस शब्द का इस्तेमाल नहीं करतीं, लेकिन अपने आचरण और इरादों से मुझे अच्छी तरह इस बात का आभास करा देती हैं कि मैं इससे कुछ अधिक या पृथक भी नहीं हूं।

अब आप ही सोचिए कि मैं पढ़ा-लिखा अच्छा-खासा लम्बा-तन्दुरुस्त आदमी, कहीं बेवकूफ हो सकता हूँ ? लेकिन उनसे कोई इस बात की कह तो देखे ? वे मुझे क़तई अक़्लमन्द मानने को तैयार नहीं हैं। उनका पक्का विचार है कि मैं सचमुच ही ऐसा भौंदू हूं कि मालिनें और कुंजड़िनें मुझे आसानी से ठग सकती हैं, दर्जी मेरा कपड़ा मजे में खा सकता है, हर दूकानदार मुझे आराम से लूट सकता है, सफर में मेरी जेब काटी जा सकती है और न जाने मेरा क्या-क्या नहीं हो सकता ? उनके विचार से, घर से बाहर, अकेले, मैं कहीं भी निरापद नहीं हूं। न जाने कब मुझे और कुछ नहीं किसीकी नजर ही लग जाय ? न जाने

कब मुझे कहीं कोई बहका ही दे और क्या पता न जाने कब मुझे बुखार ही होजाय तो ? और जी, आजकल किसीका कोई ठिकाना है—कोई कहीं मुझ पर जादू-टोना ही कर बैठे तो 'वे' तो बस बैठी ही रह जायंगी कि नहीं ? इसलिए वह सदा छाया की तरह मेरे साथ लगी रहती हैं। गोया मैं गृहस्थी की गाड़ी का ड्राइवर भले ही होऊं, मगर यह गाड़ी बिना उनकी विसिल के हरगिज गतिमान नहीं हो सकती !

खुद मैं अपने आपको कोई कम होशियार और किसीसे कम फ़ितना नहीं समझता, लेकिन 'वे' मुझे सिर्फ भोला और भुलक्कड़ ही कह कर कृतार्थ करती हैं। कभी-कभी तो उनसे मजाक में कह भी देता हूँ कि सुनो, तुम तो नाहक ही मुझसे शादी करके पछताईं। इस पर जब 'वे' आंखें तरेरने लगती हैं तो मैं उनसे पूछता हूं कि अच्छा बताओ कि मुझमें और तुम्हारे बड़े लड़के में, तुम्हारी समझ से, क्या मौलिक अन्तर है ? लेकिन मुश्किल यह है कि इन बुद्धिमानी के प्रश्नों से मेरी अक्लमन्दी उनकी निगाह में कभी भी सही नहीं उतरती।

कभी-कभी जब कुछ सिरफिरे अखबारों में नारियों की आजादी के आन्दोलन का समर्थन देखता हूँ तो मुझे बड़ा क्षोभ होता है। इन अक्ल के मारे सम्पादकों, पत्रकारों और लेखकों से कोई पूछे कि आज नारी परतंत्र है या नर ? कौन कहता है कि नारी परतंत्र है ? परतंत्र तो बेचारा आदमी है। दूर क्यों जाते हैं खुद मुझे ही देखिए न ? मुझ-जैसी सुशिक्षित, समझदार, भले घर की, सबका मान-सम्मान करने वाली सद्गृहस्थ पत्नी हर एक को मुश्किल से ही नसीब होगी। लेकिन मैं ही जानता हूं कि अपने घर में, अपनी सहेलियों का सत्कार करने में 'वे' कितनी स्वतंत्र हैं और अपने ही घर में अपने मित्रों को आवभगत करने में मैं कितना परतंत्र हूँ ?

कहने का मतलब यह कि वे लाखों से भली हैं, नेक हैं, खुशदिल हैं और उदार प्रकृति की भी हैं, लेकिन तभी तक, जब तक कि मैं उनकी समझ के दायरे के अन्दर बिना कान-पूँछ हिलाये चला जाता हूं। अगर कहीं उनकी खींची हुई लक्ष्मण-रेखा का अतिक्रमण करके अपने पत्नीव्रत धर्म से मैं जरा भी डिगता हूँ तो समझ लीजिए कि मेरी भी पुश्तैनी रियासत पर सरदार पटेल की नजर पड़ गई है ! मैं शौक से

बाजार जाऊं, ठाठ से सिनेमा देखूं, मजे से सैर करता रहूं, लेकिन मेरा पथ तभी तक सुरक्षित समझिए कि जब तक या तो 'वे' खुद साथ हों या उनकी आज्ञा की लालटेन मेरी राह के अन्धकार को नष्ट कर रही हो ! क्योंकि बिना उनकी आज्ञा के बाजार जाना—आवारागर्दी, सिनेमा देखना—पाप, और सैर करना—महान मूर्खता है ! इन अपराधों का दंड भी कोई साधारण नहीं मिलता। आंसुओं के महासागर में डुबकियां लगाने से लेकर तनहाई तक की सजा उनके पीनल कोड में दर्ज है ! इतना ही नहीं जुर्म संगीन होने पर कभी-कभी तो तनहाई के साथ-साथ राशन-पानी भी बन्द कर दिया जाता है। अभी-अभी एक और एटम बम खोज निकाला गया है। अब तो बाजार-सिनेमा की ओर रुख करते ही हमारी पाकेट मार ली जाती है और वह शरणार्थी बनाकर छोड़ा जाता है कि हमारी जेब में ट्राम तक को पैसे नहीं होते।

उनकी भलाइयों और उनके साथ लगे हुए इस लेकिन के किस्से का कहां तक बयान करूं ? हाल यह है कि घर में भोजन अच्छे-से-अच्छा बनता है, मगर वह होता है सब-कुछ उनकी रुचि का। कपड़े मुझे अच्छे-से-अच्छे पहनने को मिलते हैं, लेकिन मेरी पसन्द के बारे में मुझसे कभी एक शब्द भी नहीं पूछा जाता। मेरे घर में बढ़िया-से-बढ़िया क्राकरी है, एक-से-एक आला चित्र हैं, सब-कुछ है, लेकिन ईमान से कहता हूं कि रेडियो से लेकर आलू छीलने की मशीन तक में मेरी सलाह और समझदारी का रत्ती-भर भी साझा नहीं है।

सही बात तो यह है कि कभी विवाह के समय जब हम दोनों ने सप्तपदी के फेरे लगाये थे, उनमें मैं भले ही थोड़ी देर को आगे रहा होऊं, आज तो 'वे' मुझे आगे निकलने ही नहीं देतीं। अब तो खरीदे हुए घोड़े की तरह बिना कान-पूँछ हिलाये उनके पीछे-पीछे ही चलना है। राजी से चलूं या नाराजी से, चलना मुझे उनके पीछे ही है, क्योंकि डोरी मेरी उनके ही हाथ में है।

'उन' के साथ बाजार जाना....!

"एक दिन शाम को भोजन भी न मिले तो सह सकता हूँ; रात को पलंग पर बिस्तर न हो तो भी कोई बात नहीं; पर श्रीमतीजी के साथ बाजार जाना·········ना बाबा ! यह तो घर आई मुसीबत को मोल लेना है !!"

"अगर उनका वश चले और घर में जगह हो तो वे सारे बाजार को अपनी सन्दूकों और आलमारियों में ही भर लें !"

३

मुझसे अगर आप कहें कि दफ्तर में ८ घण्टे के बजाय १० घण्टे की ड्यूटी देनी पड़ेगी, यकीन रखिए, मैं उसे खुशी-खुशी मंजूर कर लूँगा, पर अगर कोई कहे कि दो घण्टे क्या, सिर्फ १० मिनट के लिए श्रीमतीजी के साथ जाकर चाँदनी चौक में चहल-कदमी कर आऊं तो मेरे देवता कूंच कर जायेंगे ! उनके साथ बाजार जाने की अपेक्षा अगर मुझे एक दिन शाम को भोजन भी नहीं मिले तो सह सकता हूं, रात को पलंग पर बिस्तर न हो तो भी कोई बात नहीं, पर श्रीमतीजी के साथ बाजार जाना........ना बाबा ! यह तो घर आई मुसीबत को मोल लेना है।

अगर आप नई उम्र के अविवाहित हैं तो आपकी समझ में मेरी बात नहीं आ सकती और अगर बदकिस्मती से आप बहुत पुराने विधुर हैं तो भी बहुत हद तक बीसवीं शताब्दी के हम-जैसे सभ्य पतियों के साथ आप हमदर्दी प्रकट नहीं कर सकते। क्योंकि........

जाके पैर न फटी बिवाई।
वह क्या जाने पीर पराई ?

मामूली तौर पर देखने में यह बात बड़ी अटपटी-सी लगती है कि बाजार जाना और वह भी अपनी ही पत्नी के साथ.......इसमें भला मुसीबत की क्या बात है ? सोचा तो हम यों करते हैं कि अच्छे-से-अच्छे सूट में हम होंगे, नये-से-नये कट में हमारी 'वे' होंगी, महीने-भर की हमारी कमाई से भरा हुआ उनका मनीबेग होगा—उनकी ललचाई हुई आँखें किसी साड़ी या ब्लाउज पर, अंगूठी या नेकलेस पर, पिन या पाउडर पर, लिपिस्टिक या लवेंडर पर पीछे पड़ेंगी कि हम पहले ही उसे खरीदने का आर्डर दे चुके होंगे, और इस प्रकार उनकी उज्ज्वल

दन्तपक्ति और सलज्ज नेत्रों से जो स्नेह का सरल तरल स्रोत फूट उठेगा उसमें हम आकंठ डूब जायेंगे !

लेकिन यहां हाल यह है कि स्नेह का वह सरल स्रोत अब विशाल होकर इतना उमड़ पड़ा है कि उसका पानी हमारे कंठ तक ही नहीं नाक तक आगया है और यह चढ़ाव यदि इसी तरह बढ़ता ही गया और बाढ़ उतरने के कोई लक्षण नहीं हुए तो वह क्षण भी दूर नहीं समझना चाहिए कि जब पानी हमारी चोटी के ऊपर होकर निकल जायगा !

आप ही बताइए, यह भी कोई बात है कि बाजार उन्हें जाना है शनिवार की शाम को, लेकिन तकाजे शुरू होगये हैं सोमवार की सुबह से ही ! अरे भाई. शनिवार को बाजार जाना है तो उस दिन सुबह कह दो ! दफ्तर से जरा जल्दी उठ आयेंगे। और अगर हमारी पत्नी-भक्ति और फरमाबरदारी पर कुछ कम ही भरोसा है तो अधिक-से-अधिक शुक्रवार की शाम को ही याद दिला दीजिए। अब यह भी कोई बात हुई कि छः दिन पहले से दोनों वक्त हमारी यादाश्त की घड़ी में चाबी लगाई जारही है कि देखो जी, शनिवार की शाम को बाजार चलना है !

और यहां तक हो तो भी कोई बात नहीं। हाल यह है कि उनके बाजार जाने की तैयारी में न जाने हमें कितनी बार स्वयं बाजार को नापना पड़ता है। मसलन, वे पुरानी चप्पलों से इस बार बाजार नहीं जा सकतीं, तो यदि हम सचमुच लायक पति का सार्टीफिकेट प्राप्त करना चाहते हैं तो शुक्रवार की शाम को ही हमें एक नहीं कितनी ही चप्पलों के सेट, उनकी पसन्द के लिए लाकर हाजिर करने चाहिए। यह तो मैंने एक मामूली-सी मिसाल दी। तरह-तरह की पत्नियों के भांति-भांति के पतियों के इस सम्बन्ध में अलग-अलग अनुभव हैं। मसलन, किसीके घर में उनके बाजार जाने से पहले धोबी दगा दे जाता है। किसीके घर में दर्जी दूकान बन्द करके रफूचक्कर हो जाता है, कहीं यकायक माथे की शीशी न जाने कहां गुम होजाती है और कहीं क्रीम का डिब्बा कम्बख्त ठीक उसी वक्त खतम होने की सूचना दे दिया करता है ! अब अगर आपको शनिवार की शाम और रविवार के पूरे दिन की खैर मनानी है तो पहले चुपचाप बिना

कान-पूंछ हिलाए इन अभावों की पूर्ति करनी होगी और फिर यह मनाना होगा कि हे भगवान, इन्हें कम-से-कम इतनी सुबुद्धि तो दो कि अब ये किसी अपनी सहेली के यहां तो मेरा मनिआर्डर न करदें कि "ज़रा जाना जी, मैंने शीला से भी बाजार साथ चलने को कहा है !"

हां, अगर आपके ज्यादा बाल-बच्चे नहीं हैं और मेरी तरह आपके भी एक मुन्ना और एक ही मुन्नी है तो कोई बात नहीं। जैसा अक्सर मैं करता हूं वैसा ही आप करें कि उन्हें अकेले घर न छोड़ें। एक को कन्धे से लगालें और दूसरे को अंगुली पकड़ादें, लेकिन अगर भगवान की कृपा से और पूर्वजों के पुण्य-प्रताप से आपकी फुलवारी फूली हुई है और आपकी बालचर सेना में हमारे पड़ौसी की तरह पूरी 'इलैविन' में यदि केवल चार की ही कमी रह गई है तो सच मानिए मैं आपको कोई सलाह देने के लायक नहीं हूं ! तब तो भगवान ही आपका मालिक है ! बस यह समझ लीजिए कि आप किसी कस्बे की भरी सड़क के किनारे एक मुर्गियों के काफिले के समान हैं ! सड़क पर चलते हुए इक्के से, तांगे से, बैलगाड़ी से, मोटर से—किस-किस का क्या हाल होना है, यह कोई ज्योतिषी भी नहीं बता सकता !

मुसीबत एक हो तो कही जाय, और उसका इलाज भी किया जाय ! वे श्रीमतीजी, जिनसे घर में अगर यह कहा जाय कि ज़रा उठकर पानी ही पिलादो, तो नौकर को आवाज देने लगती हैं या इसके अभाव में ऐसे उठती हैं कि न जाने दिन-भर इन्हें किस चक्की में जुतना पड़ा है ! वही, बाजार में पहुंचते ही इतनी चुस्त और चंचल होजाती हैं कि औसत हिन्दुस्तानी पति उनका उस वक्त मुकाबला नहीं कर सकता ! एक दूकान से दूसरी दूकान पर इस झपाटे से पहुंच जायंगी कि आपको इसका, जब तक कि वह वहां से खुद आवाज न दें, पता ही नहीं चलेगा। खैर, यह तो दूकानों की बात है कि भीड़-भाड़ में पता नहीं चलता कि कहाँ गईं और क्या हुआ ? लेकिन मेरा तो दावा यह है कि सरे बाजार और खुली सड़क पर भी आप चलने में उनका साथ नहीं दे सकते। गार्ड के डिब्बे की तरह आपका स्थान पीछे ही सुरक्षित है।

जरा आप उस दशा की कल्पना कीजिए कि जब आप मुन्ने को कन्धे से लगाये, मुन्नी का हाथ थामे, अपनी बगल में चीजों का पुलन्दा लिये श्रीमतीजी के पीछे-पीछे घिसट रहे हैं और आपके मिलने वाले हैं कि आपसे नमस्ते का फर्ज सिर्फ इसी समय अदा करना चाहते हैं! नमस्ते करके ही ये महाशय टल जायं तो भी गनीमत समझिए! लेकिन क्या बताएँ, उनमें से कुछ महाशय तो हमारे इस कदर हमदर्द होते हैं कि उनकी भलमनसाहत का खुले शब्दों में बयान ही नहीं किया जा सकता! वे कम्बख्त कुछ देर ठहर-ठहराकर हमारी हालत पर तरस खाना चाहते हैं और लाचारी यह कि पत्नी के सामने असभ्य व्यवहार के दोषी न बन जाने के कारण समझिए, या अपनी भलमनसाहत और स्थिति के तकाजे के लिए समझिए, हमें मित्रों पर कुपित होने के बजाय उनसे मुसकराकर ही बातें करनी पड़ती हैं।

एक तरफ तो यह मुसीबत है और दूसरी तरफ तस्वीर का एक दूसरा पहलू भी है। हम बड़े आदर्शवादी हैं, धड़ल्ले के समाज सुधारक हैं, स्वदेशी का व्रत भरी सभाओं में ले चुके हैं, लेकिन एक हमारी श्रीमतीजी हैं कि इन सब चीजों को वाहियात और बेतुकी समझती हैं। हम समझते हैं कि भारतीय औरतों की साड़ी जरा मोटी और हाथकते सूत की होनी चाहिए, लेकिन श्रीमतीजी को ठेठ विलायत की पारदर्शी वायल पसन्द है। हम सौंदर्य और शृंगार के लिए पाउडर, क्रीम और लिपिस्टिक को बिल्कुल आवश्यक नहीं समझते, यही नहीं, हमारा ऐसा खयाल है कि इन चीजों के प्रयोग से स्वाभाविक सौंदर्य नष्ट होजाता है। लेकिन भाई मेरे, जरा आप इस तर्क को घर में प्रयोग करके तो देखिए? तीसरा महायुद्ध पहले ही शुरू न होजाय तो मेरा नाम नहीं! हम फालतू चीजों के एकत्रीकरण के सख्त खिलाफ हैं। लेकिन श्रीमतीजी का हाल यह है कि अगर उनका वश चले और घर में जगह हो तो वे सारे बाजार को अपनी सन्दूकों और आलमारियों में ही भरलें।

गरज यह है कि हमारी रुचियाँ अलग हैं और उनकी अलग! मुसीबत यह कि वे अपनी पसन्दगी हम पर जाहिर कर सकती हैं, लेकिन हम भरे बाजार में उनकी रुचि, चुनाव, योग्यता और पसन्दगी

को कोई चुनौती नहीं दे सकते। क्योंकि घर लुट जाय इसकी कोई चिन्ता नहीं, सिद्धान्तों का आँखों आगे खून होता रहे इसका भी कोई महत्व नहीं, महत्व सिर्फ इस बात का है, चिन्ता सिर्फ इतनी है कि कहीं कोई ऐसी बात न होजाय जिसे सभ्य-समाज में 'एटीकेट' के बाहर न बताया जाय। तो, उनके साथ बाजार जाने में होता यह है कि हमें अपने धन को छोड़कर अपने तन और मन दोनों पर संयम रखना पड़ता है!

अभी कुछ दिन हुए कहीं एक लेख भी पढ़ा था। इसमें लिखा था कि पति की प्रकृति चन्दन के समान होनी चाहिए और पत्नी की प्रकृति दियासलाई की तरह! पत्नी की प्रकृति से तो हमारा कोई वास्ता नहीं, अगर मुझे कोई लेख लिखना पड़े तो मैं दियासलाई छोड़ उन्हें बारूदी सुरंग की उपमा देना अधिक पसन्द करूँगा! लेकिन जहां तक पति की प्रकृति का सवाल है हमें चन्दन की उपमा की कद्र करनी चाहिए।

लेकिन बातों से और चन्दन बनकर रहने से ही काम चल जाय तो कोई मुसीबत खड़ी न हो। यहां तो मुसीबत यह है कि आमदनी अपनी सीमित है और इच्छाएं उनकी असीमित! जैसा मैंने पहले कहा अगर उनका वश चले तो वे सारे बाजार को अपने घर में भर लें। पास-पड़ौस में जितनी औरतों पर जितने नये डिजायन की साड़ियां देखती हैं, वे उन सबको खरीद लेना चाहती हैं। इस पर चतुर दूकानदार भी पतियों की हालत पर कोई खास रहम करने वाले नहीं होते। उन्हें एक मामूली-सी छींट का टुकड़ा दिखाने के लिए कहिए, वे रंगबिरंगे थानों के अम्बार लगा देंगे और इतनी तरह-तरह की दिल-पसन्द चीजें पेश करेंगे कि आपकी 'उन'के मन में विभ्रम पैदा होजायगा कि वे क्या तो लें और क्या छोड़ें? गरज यह है कि बिना गांठ कटे आपकी गति नहीं! लेकिन प्रश्न यह है कि आखिर आपकी गांठ कहां तक कटेगी? कोई कुबेर का खजाना तो आपके यहां गढ़ा नहीं? अक्सर होता यह है कि 'पर्स' बेचारा लाचार होकर मुँह फाड़ देता है और उनकी तमन्नाएं अधूरी रह जाती हैं! आखिरी वक्त कभी-कभी तो यह हाल होता है कि लौटने के लिए तांगे के पैसे तो दर-

किनार मुन्ने के गुब्बारे के लिए भी एक आना जेब में नहीं रहता। तब यह जरूरी है कि आप पैदल वापस लौटें। यह भी जरूरी है कि आप मुन्ना, मुन्नी और सामान के भार से थक जायं और आपको सहायता के लिए श्रीमतीजी से अपील करनी पड़े, और उस अपील के प्रत्युत्तर में जो सार्टीफिकेट आपको इनायत फरमाया जाय, उससे आपकी आत्मा हरी होजाय और आगे से आप कभी उनके साथ बाजार न जाने का संकल्प कर बैठें! लेकिन आपका संकल्प कितना टिकाऊ है और आपकी मुसीबतों का सिलसिला कितना छोटा है—यह मैं अच्छी तरह जानता हूँ!

मकान नहीं मिला....!

"शायद भारतीय पुलिस के सी० आई० डी० वाले भी अपने फर्जी मुज़रिम का पता इस होशियारी और मुस्तैदी से नहीं लगाते होंगे कि जिस लगन और सफाई से हम खाली मकान के मालिक का ही नहीं—उसके भाई-भतीजों, साले-सुसरों तक की खोज-खबर ले आते हैं और तरह-तरह से अपनी बातों और सिफारिशों का जाल उस पर बिछा देते हैं, लेकिन साहब, क्या बताएं ऐसे-ऐसे भीम-प्रयत्नों के बाद भी हमारा मोर्चा अभी तक कहीं नहीं जम पाया है और हमारी गोली हर बार खाली ही गई है!"

घूंघट सरकाकर मकान मालकिन बोलीं, "जी, आपकी शादी होगई है ?"

४

दिल्ली में मकान खोजते-खोजते आज तीन साल होगये, मगर मकान क्या हुआ, एक मुसीबत होगई है ! नई दिल्ली और कनाट प्लेस के ऊँचे-ऊँचे महलों से लेकर शहर की सीमा में स्थित जितनी भी गन्दी और उजली गलियाँ हैं, उन सब की चरण-रज हम शीश पर चढ़ा चुके हैं, लेकिन तकदीर कुछ ऐसी खोटी है कि सब जगह से एक ही टका-सा उत्तर मिलता है कि साहब, अभी तो कहीं कोई खाली नहीं है !

कभी-कभी हम सोचते हैं कि इतनी लगन यदि कहीं हमने पिछले दो-एक स्वदेशी आन्दोलनों में दिखा दी होती तो आज कैसा मकान, कहीं के एम० एल० ए० होगये होते और तब हम तो क्या हमारे रिश्तेदारों तक को वह कोठियाँ 'एलाट' हुई होतीं कि लोग भौंचक्के रह जाते ! या फिर गोसाईं तुलसीदासजी की तरह हमें भी अपनी पत्नी का व्यंग-बाण लग गया होता (हालांकि उनकी तरफ से इस काम में कभी कोई जान-बूझकर चूक नहीं हुई है) और हमने भी जग-संसारी छोड़कर "हरि से हेत" किया होता तो विश्वास मानिए कि योगियों के भी ध्यान में न आने वाला वह परमात्मा भी हमारे ऐसे अखण्ड तप से पिघल गया होता और मकान की तो क्या चलाई, हम तीन-तिरलोकी का राज्य भी पागये होते और फिर हमें घर-गिरस्ती बसाने के लिए यों किसी दड़बे की जरूरत ही नहीं पड़ती !

आपसे क्या छिपाएं, जितने भी हमारे रिश्तेदार हैं या आसानी से जिन्हें रिश्तेदार बनाया जा सकता है, सच मानिए, उन सबके घर दस-दस पन्द्रह-पन्द्रह दिन ठहरकर हमने अपनी नई और पुरानी

सब रिश्तेदारियाँ खत्म कर डाली हैं और अब तो हाल यह है कि भूले-भटके अगर किसी दिन हम कहीं उनसे मिलने भी जा निकलते हैं तो उनकी पत्नियाँ पति को डांटकर अन्दर से ही कहलवा देती हैं कि 'वे' तो बाहर गये हैं !

अब तो शहर की धर्मशालाओं के मुन्शी, मेहतर और चौकीदारों पर ही हमारी दिल्ली बसी हुई है ! जिस दिन इनकी आँखें फिर गईं-बस, उसी दिन हमारे लिए संसार सूना होजायगा ! इन लोगों से जैसे हमारे ताल्लुक हैं, वैसे आपको सगे भाइयों में भी नहीं मिलेंगे ! और हों भी क्यों नहीं ? जब एक-एक धर्मशाला में तीन-तीन दिन नियम से और दस-दस दिन धांधली से हम डेरा डाल चुके हैं तो ये मुन्शी, मेहतर और चौकीदार भला, हमें नहीं पहचानेंगे तो और किसे पहचानेंगे ?

कितनी ही बार तो ऐसा हुआ कि दिन-भर दफ्तर में काम करके हम रात को गुरुद्वारे में जा सोये हैं और सुबह 'सत् श्री अकाल' कहकर वहाँ से 'कड़ाह प्रसाद' प्राप्त करके खिसक आये हैं !

हां, अभी फुटपाथ पर सोने की नौबत नहीं आई ! पर हमारी तकदीर का अगर यही हाल रहा और भगवान की ऐसी ही कृपा बनी रही कि दिल्ली में यों ही आम भरती होती चली गई तो वह दिन भी दूर नहीं समझना चाहिए कि जब हम बिस्तर बगल में दबाये हुए किसी फुटपाथ की तलाश में, अन्धेरे में निकल पड़ेंगे !

यह नहीं कि हमने मकान की तलाश में कहीं कसर छोड़ दी हो, या अपनी-सी करके न रहे हों। सच तो यह है कि कोई आई० सी० एस० या पी० सी० एस० के इम्तिहानों में भी क्या तैयारी करके बैठता होगा कि जिस सूझ-बूझ और तत्परता से हम मकान की खोज में निकलते हैं !

दोस्तों की बात तो छोड़ दीजिए, मिलने-जुलने वालों और जिनसे थोड़ी-सी भी राम-राम या दुआ-सलाम बाकी है, उन तक से भी हम दिन में तीन बार पूछ लेते हैं कि कहिए, "हमारी किस्मत का क्या हाल है ?" और जैसे ही हमें अपनी तकदीर कुछ कुसमुसाती नजर आती है, यानी पता चलता है कि कहीं कोई मकान खाली हुआ है,

या होने वाला है हम उसके आस-पास वैसे ही मँडरा उठते हैं जैसे कि चुनावों के दिनों में हमारे भाई-बन्द आँख के अन्धे और गांठ के पूरे उम्मीदवारों के पास आ मँडराते हैं !

शायद भारतीय पुलिस के सी० आई० डी० वाले भी अपने फर्जी मुज़रिम का पता इस होशियारी और मुस्तैदी से नहीं लगाते होंगे कि जिस लगन और सफाई से हम खाली मकान के मालिक का ही नहीं, उसके भाई, भतीजे, साले, सुसरों तक की खोज खबर ले आते हैं और तरह-तरह से अपनी बातों और सिफारिशों का जाल उस पर बिछा देते हैं। लेकिन साहब, क्या बतायें ? ऐसे-ऐसे भीम-प्रयत्नों के बाद भी हमारा मोर्चा अभी तक कहीं नहीं जम पाया है और हमारी गोली हर बार खाली ही गई है !

उस समय की हमारी हालत का आप अन्दाजा तक नहीं लगा सकते कि जब मकान-रूपी लंका की खोज में हम न जाने किन-किन सुरसाओं के मुँह से निकलकर त्रिकूट पर्वत पर पहुँचे हैं और इससे पहले कि हम मशक समान रूप धारण करें, हमें पता चला है कि सोने की लंका तो पहले ही लुट गई—अर्थात् मकान हमारे पहुँचते-पहुंचते घिर गया है और हमें बड़े अफसोस के साथ कहा गया है, "जी, आप कल नहीं आये, नहीं तो वह आपका ही था। हमने उसे अपने लड़के के, साले के, भाई के, भतीजे को अभी-अभी उठा दिया है।"

तो, मैंने कहा, दिल्ली में सब कुछ है, पर मकान नहीं ! यहाँ चार प्रहर लक्ष्मी बरसती है पर गृहलक्ष्मी को टिकाने के लिए चार हाथ जगह नहीं ! आप अगर कंगाल हैं तो दिल्ली आजाइए, चोर-बाजार से मालामाल हो जायँगे। यदि पैसा बहुत है और उसके खर्च करने की कोई सूरत नजर नहीं आरही है तो बारहखम्बे के बाजार में सिर्फ एक चक्कर काट लीजिए, सूरतें-ही-सूरतें नजर आने लगेंगी। और इन दोनों में से अगर आप किसीके लायक नहीं तो नौकरी यहाँ दिन में तीन की जा सकती हैं और छै छोड़ी जा सकती हैं। सच कहता हूँ कि अंग्रेजों के जमाने में रायबहादुरी का भी मिलना इतना

कठिन नहीं था, जितना इस समय एक छोटे-से मकान का मिलना कठिन होगया है !

अभी ताजी परसों की बात है कि हम उस नई बस्ती में एक खाली मकान का सुराग पाकर पहुँचे। किवाड़ों पर बार-बार दस्तक देने और चीखने-चिल्लाने पर मकान मालिक मुश्किल से खीजते हुए निकले और बिगड़ते हुए-से बोले, "क्यों क्या काम है ?"

'जी," मैंने कहा, "कोई मकान खाली सुना है ?"

मकान मालिक चिड़चिड़ा कर बोले, "सुबह से शाम तक मकान-मकान, यहाँ कोई खाली नहीं है !"

लेकिन जैसे चिकने घड़े पर पानी की बूँदें नहीं ठहरतीं, वैसे ही इन उत्तरों को सुनते-सुनते हम भी एक ही पक्के होगये हैं ! हमने और भी विनम्र होकर कहा, "जी, ठीक है, नहीं होगा। पर वह जो अपने लाला छदामीमल हैं न ? उन्होंने भेजा है और कहा है कि लाला बदामीमल से मेरा नाम लेना। लालाजी, बड़ी मेहरबानी होगी !"

लालाजी ने बड़े ध्यान से हमें ऊपर से नीचे तक देखा, मानो शहर कोतवाली में दीवान साहब किसी नामी गुण्डे की शिनाख्त कर रहे हों ! फिर थोड़ी देर सोचकर बोले, "आप अन्दर आइए !"

सतयुग में जब गज को ग्राह ने ग्रसा था और उसने सूँड ऊँची करके हरि भगवान् से टेर लगाई थी कि हे अशरण शरण भक्तवत्सल प्रभो, तुम्हीं हो दीनानाथ—अब तेरे सिवा कौन मेरा कृष्ण कन्हैया ! ठीक इसी तरह ही मैंने 'संकट मोचन नाम तिहारो' का पाठ करते हुए कहा कि हे पवनपुत्र, 'अब तुही बचा लाज मेरी' और बैठ इस लाला के घट में और काम सिद्ध कर !

अन्दर ले जाकर लाला ने अपनी ललाइन के सामने खड़ा कर दिया और बोले, "यह मकान चाहते हैं, बात करलो इनसे।"

खजूर से गिरा तो बँबूर में अटका ! लालाजी से तो हनुमानजी विजय दिला भी सकते थे पर ललाइन के सामने तो हमें उनकी भी नानी कूँच करती हुई दिखाई दी !

घूँघट सरकाकर मकान मालकिन बोलीं, "जी, आपकी शादी होगई है ?"

प्रश्न सुनकर मैं सन्नाटे में आगया कि आखिर ललाइन का मतलब क्या है ? बहुत देर बाद जब अक्ल ठिकाने आई तो मालूम हुआ कि इन ललाइन ने तो पहले ही वार में हमारी धरती खिसका दी होती, पर वह तो यों कहिए कि हमारे पिताजी बड़े बुद्धिमान थे, उन्होंने आज के खतरे को १६ साल पहले ही अनुभव करके हमारी चाईं-माईं बचपन में ही कर दी थी !

हमने सीना तानकर कहा, "जी, भगवान की कृपा से दो बच्चे भी हैं।"

फिर पूछा, "आपकी बहू लड़ाका तो नहीं है ?"

हमने मन में सोचा कि लड़ाका तो वह ऐसी है कि उसके मारे अच्छा-खासा घर छोड़कर दिल्ली देखनी पड़ी है, पर प्रकट में ललाइन से कहा,..."जी, बिल्कुल गऊ है गऊ ! भले घर की लड़की है, सीधे मुँह उठाकर बात भी नहीं करना आता।"

लेकिन यहीं तक गनीमत नहीं थी। सेठानी ने लगातार प्रश्नों की बौछार जारी रखी—बच्चे ऊधमी तो नहीं हैं ? आप प्याज तो नहीं खाते ? पंजाबी तो नहीं हैं ? कहाँ काम करते हैं ? कितनी आमदनी हो जाती है ? अब तक कितने मकान बदले हैं ? मेहमान तो आपके यहाँ नहीं आते, आदि-आदि।

फिर कहा, "जी, बहू-बेटियों का घर है। हम तो भले आदमी को ही अपने यहाँ बसाते हैं और देखो बाबूजी, यह बात पहले से सुन लो छतें सब झाड़नी पड़ेंगी, टट्टी रोज धुलानी होगी, जीना, आंगन सब आपके जिम्मे है। और देखिए, मकान की मरम्मत हम नहीं करायेंगे कि पीछे आप यह कहें कि यह लगवादो, वह लगवादो—यह टूट गया, वह फूट गया !"

आप जानते हैं कि गरज बावली होती है। जैसा कि तय था इन सब बातों का उत्तर 'हां' में ही दिया गया। हम समझते थे कि बस, मैदान मार लिया ! लेकिन हमें यह क्या पता था कि अभी हल्दी-घाटी का संग्राम बाकी है ! अब तक जो लालाजी गुम बने बैठे थे, अब उनकी चोंच खुली और वह कहने लगे, "देखिए, बाबू साहब, हम किसी बाहर के आदमी को मकान नहीं देते, पर क्योंकि आप लाला छदामी-

मल के भेजे हुए हैं तो ऐसी बात है कि आपको इन्कार भी नहीं किया जा सकता !"

हमने समझा कि शायद हमारी बृहस्पति जोर मार रही है !

लेकिन कुछ ही क्षण बाद लाला बदामीमल ने फिर कहा, "देखिए जी, हम लड़ाई-झगड़े वाले आदमी नहीं हैं। जो बात तय होजाती है उस पर बाद में झगड़ा-टंटा नहीं करते।"

हमने श्रद्धालु भक्त की भांति गर्दन झुकाली और उनके प्रवचन को आकंठ पान करते गये !

और फिर उन्होंने पलकों को दो-तीन बार झपकाकर ओठों को पहले सिकोड़ा और फिर पीछे फैलाकर अपने चारों ओर देखते हुए धीरे से कहा, "हम कोई लिखा-पढ़ी नहीं करेंगे। किराये की रसीद भी आपको नहीं देंगे। मकान जब चाहेंगे तब खाली करा लेंगे।"

भला मैं चाहकर भी इस पर कोई आपत्ति कैसे कर सकता था ?

लालाजी कहते गये, "ऊपर दो कमरे हैं, किराया भी मामूली है, यही—६०-६० रुपये। वाटर टैक्स अलग, बिजली टैक्स अलग, भंगी का महीना अलग, फिनाइल के दाम अलग। आपको छदामीमल ने भेजा है नहीं तो एक-एक कमरे के १००-१०० रुपये लग चुके हैं। लेकिन आप जैसे भले आदमियों से अधिक लेना शोभा नहीं देता ! मकान आप जानते हैं लड़ाई में बनवाया है। २५०००) टूट गये हैं, साहब ! कोई और काम तो अपने यहाँ होता नहीं, बस ५००) ही और दे दीजिए।

जैसे जापानी गुब्बारे की डोरी खोल देने पर फूंक सरक जाती है, वैसे ही लालाजी की महाप्राण बातों को सुनते-सुनते हमारी छाती बैठ गई थी ! फिर भी हमने जोर लगाकर पूछा, "जी, यह ५००) क्या किराये के पेशगी हैं ?"

बोले, "जी, आपसे क्या पेशगी लेंगे ? भले आदमी कभी किसी का छदाम भी नहीं रखते। आजकल ५००) होते ही कितने हैं ? इस लड़ाई में तो रुपये की कदर अधेले की रह गई है !"

मैंने डरते-डरते पूछा, "तो आपका मतलब पगड़ी से है ?"

तो बोले, "आप इसे पगड़ी कहते हैं—राम-राम !" अजी यह तो नये मकान की मुँह-दिखाई है बाबू जी ! वह भी आपकी खातिर,

नहीं तो इतने कम किराये का और ऐसा आलीशान मकान दिल्ली में आपको दूसरा नहीं मिल सकता !

उस आलीशान मकान की बाबत कुछ न कहना ही अच्छा होगा। कच्चा फर्श, टूटी छत ! कमरे ऐसे आलीशान कि जिनमें कोई ताक नहीं, आलमारी नहीं, जंगला नहीं। लम्बे-चौड़े इतने कि दो खाटें मुश्किल से बिछ सकें। मोरी नहीं, परनाला नहीं, रसोई नहीं, पंडहरी नहीं !

दबी बिल्ली जैसे चूहों से कान कटाती है, वैसे ही हम वहां से उठकर चले आये हैं और अपनी सारी झूंझल कलम के सहारे बेकार कागजों पर उतार रहे हैं। आप इसे पढ़कर हँसेंगे और कुछ को शायद हमारे हाल पर हमदर्दी भी हो, लेकिन धर्मशाला में लौटकर अपनी श्रीमतीजी को हम क्या उत्तर देंगे, यह अभी तक समझ में नहीं आया है !

मेहमान से भगवान बचाए....!

"अक्सर मेहमान के घर में दाखिल होते ही हमारी 'वे' बीमार हो जाया करती हैं और उनके स्वभाव में रूखापन भी अधिक आजाता है। औसतन उन दिनों हमारे घर में बच्चे ज्यादा पिटा करते हैं, बर्तन अधिक टूटा करते हैं और दाल-शाक में मिर्चें अपनी उपस्थिति जोर-शोर से सूचित किया करती हैं। अक्सर मेहरी को इन दिनों जवाब दे दिया जाता है और हमारी श्रीमतीजी जो आये-दिन घर की देहली के बाहर पैर तक नहीं निकालतीं, इन दिनों तीन-तीन चार-चार घंटे सहेलियों के यहां जाकर ताश खेलने में अपने बेकार समय का सदुपयोग किया करती हैं!"

"आपको तो पता चलेगा पीछे। इससे पहले ही आपकी बैठक पर सदल-बल उनका कब्जा होचुका होगा!"

५

आजकल तो हाल कुछ ऐसा होगया है कि क्या घर और क्या बाहर कहीं कोई बात बनाये ही नहीं बनती। एक हमारे महामहिमामय पूर्वज थे कि उनके घर यदि कभी कोई अतिथि आजाता तो समझते थे कि जैसे स्वयं भगवान ने ही उन पर कृपा की है। परिवार-भर में आनन्द का सागर हिलोरें लेने लगता, दूर से ही अर्घ्य देते और पलक पांवड़े बिछाते अतिथि महोदय का सुस्वागत किया जाता, भांति-भांति के पेय और पकवानों से उनकी रसना तृप्त की जाती। भांति-भांति के आनन्ददायक व्यवहार बरते जाते और इस प्रकार फूँक-फूँककर कदम रखा जाता कि अतिथि को कहीं कोई ठेस न लग जाय। यह समझिए कि सारा घर मेहमान के मुँह की ओर ताकता रहता कि इससे पहले कि श्रीमान् कुछ कहें उनकी फरमाइश पूरी करने का पूरा पूरा प्रयत्न किया जाय।

तो मैंने कहा कि एक तो वह युग था और एक आज है कि मेहमान का घर आना तो दूर, अगर कहीं किसी की चिट्ठी भी आजाती है कि हमारा विचार दिल्ली देखने का है तो सच मानिए नाड़ी अपना नियत स्थान छोड़ देती है और दिल की धड़कन कम-से-कम चारगुनी तो अवश्य ही बढ़ जाती है! हम विश्वास भी नहीं कर पाते कि यह सज्जन सच लिख रहे हैं या मजाक कर रहे हैं? दिल अन्दर-ही-अन्दर यह मनाता है कि हे भगवान, यह मजाक ही हो! और आप जानते ही हैं कि भगवान् महाशय हमेशा साथ नहीं दिया करते, इसलिए केवल भगवान पर ही भरोसा न करके हम अपनी विशाल दाहिनी भुजा में जो पांच अंगुलियां हैं उनमें स्वयं 'पार्कर' सम्हाल लेते हैं और मित्र को लिखते हैं:—

"भाई, तुम्हारे दिल्ली आने के निर्णय से हमें खुशी हुई। तुम्हें देखे बहुत दिन भी तो होगये ! आते तो बड़ा ही चित्त प्रसन्न होता ! लेकिन मुझे दुःख है कि मैं स्वयं तुम्हें यहां न आने की सलाह लिख रहा हूँ। मैं अपने बड़े-से-बड़े स्वार्थ के लिए भी तुम्हारा अहित नहीं सोच सकता। बात यह है कि वास्तव में यह मौसम दिल्ली आने का नहीं है। सफर में जो परेशानी होती है और रेलगाड़ियों में जो मुसीबत है वह तो दर किनार, उसे तो तुम जब आओगे, खुद भुगतकर ही समझोगे, मगर इतनी दिक्कत के बाद जब दिल्ली पहुँचेंगे तो यहां का हाल देख कर तुम्हें भारी निराशा होगी। एक तरफ चेचक चल रही है तो दूसरी तरफ हैजा फैल रहा है ! न कहीं आने के और न कहीं जाने के ! दिन-भर घर में कैद पड़े रहो और बाहर निकलो, तो आजकल न यहां कोई थियेट्रिकल कम्पनी है, न सिनेमाओं में अच्छे खेल ही चल रहे हैं ! फिर आजकल समय भी जरा बाहर निकलने का कम ही है। मेरी तो तुमसे मिलने की बड़ी इच्छा है, मगर क्या बताऊं परिस्थितियां मेरी भावनाओं को लाचार किये दे रही हैं और मैं तुम्हें यहां फिलहाल न आने की ही सलाह देने के लिए विवश हूँ।"

अक्सर नेक आदमी हमारी इस सलाह को मान लेते हैं। पर भाई, पांचों अंगुलियां एक-सी तो होतीं नहीं ? कुछ हमारे भी गुरु होते हैं कि बिना चिट्ठी-पत्री के ही दुर्भाग्य की तरह आ धमकते हैं !

जंगल में शेर की दहाड़ को सुनकर बछड़े के प्राण यों न सूख जाते होंगे जैसे मेहमान की नमस्ते से हमारे होश हिरन होजाते हैं ! मेहमान की मुसीबत से बचने के लिए हमने कुछ कम पेशबन्दियां नहीं की हैं, जैसे, मकान छांटकर उस जगह लिया है जहां न तांगा पहुँच सकता है न रिक्शा, न पालकी, न टट्टू। गली के अन्दर गली इस कदर जाती है कि कोई भूलभुलैयां बनाने वाला आकर मेरे मकान के नक्शे को देखे कि यहां तक पहुँचना कितनी बहादुरी की बात है ! और फिर मकान तक पहुंचने से ही कोई हम तक पहुंच जाता हो, ऐसी बात नहीं है। जीने के ऊपर जीना और कमरे के बाद कमरा, इस कदर चला जाता है कि जब तक कोई म्युनिसिपैलिटी के भोंपू की-सी आवाज में ही हमारे नाम का उच्चारण न करे, हमारे कान पर जूं नहीं रेंग सकती !

फिर सुनकर हम जवाब दे ही देंगे, इसकी क्या गारंटी है? पहले लड़के को भेजेंगे कि देखो कौन है? कैसा है? फिर लड़के की रिपोर्ट पर श्रीमतीजी खिड़की से उभक-ताककर मुआयना फरमायेंगीं कि कहीं सामान तो साथ में नहीं है, बच्चों-कच्चों की पलटन तो अलग इन्तज़ार नहीं कर रही? जब श्रीमतीजी सिगनल दे देती हैं और हम समझते हैं कि 'लाइन क्लियर' है तो पहले हम तिखने के ऊपर से झांकते हैं और जब तक बहुत ही हानि-नुकसान का प्रश्न न हो, हम ९९ प्रतिशत कहलवा देते हैं कि बाबूजी बाहर गये हैं!

पर आप समझिए कि सारी अक्ल का ठेका हमने ही थोड़े ले रखा है! भगवान ने एक-से-एक विचित्र खोपड़ियां, यानी महापुरुष, इस धराधाम पर अवतीर्ण किये हैं! लोग यह जानकर कि किले में, यानी घर में, तो हम अजेय हैं, हम पर बाहर सड़क पर, यानी खुले में हमला करते हैं! दफ्तर में सीधे पहुँचते हैं!

लेकिन इसके पहले कि वह हमसे कुछ कहें, हमने भी कुछ गुर याद कर रखे हैं। हाथ मिलते ही, हम उनसे प्रश्न करते हैं कि कहिए, कहां टिके हैं? और तत्काल ही उनके उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना ही दूसरा वार किया जाता है कि कब जारहे हैं? अगर इन दो तीरों से भी कोई बहादुर बच जाता है तो फिर हम अपना अमोघ ब्रह्मास्त्र चलाते हैं—बोलिए, नाश्ता-वास्ता तो कर आये हैं न?

मानना पड़ेगा कि दुनिया में अभी शरीफ आदमियों की कमी नहीं है। अगर भले आदमी न हों तो धरती-आसमान कैसे टिके रह सकते हैं? तो, मैंने कहा, हमारे इन प्रश्नों को सुनकर बिरला ही आदमी हमारे यहां टिकने की हिम्मत कर सकता है! अक्सर लोग घबराकर कह ही तो जाते हैं कि जी, सब कुछ ठीक है, आप तकलीफ न करें!

लेकिन, उनके लिए क्या किया जाय जिन्हें हमने गलती से, अनजाने में ही, बचपन में दोस्त मान लिया नहीं, कह दिया था! जो हमारे रौब को रौब नहीं समझते, प्रतिष्ठा को प्रतिष्ठा नहीं मानते और हमारी मुसीबत में हंस-हंसकर मज़ा लेते हैं। असल में हाथ हम इन्हीं लोगों के आते हैं! जो न चिट्ठी देते हैं, न जिन्हें हमसे कुछ पूछने की ज़रूरत है और हम चाहे पाताल में छिपकर क्यों न बैठ जायं, वे हमारी

खोज निकालने में एकदम शैतान की तरह समर्थ हैं। आपको तो पता चलेगा पीछे, इससे पहले ही आपकी बैठक पर सदल-बल उनका कब्जा होचुका होगा! उन्हें रोक भी कौन सकता है? कमबख्त, हमारे घर में घुसते ही बच्चों को अपना भतीजा बना लेंगे, हमारी मां के पहले ही झुककर चरण छू लेंगे और नौकर को इस अधिकार से हुक्म देंगे गोया जैसे वह तनख्वाह हर महीने इन्हींसे पाता है!

इन लोगों का इलाज, सच पूछिए, हमारे पास नहीं, इनकी दवा दरअसल हमारी देवीजी के पास है। मेहमान के घर में आते ही 'वे' वह रूप धारण करती हैं कि कभी-कभी तो हमको भी यह पहचानने में देर लग जाया करती है कि आखिर यह हमारे ही बच्चे की मां हैं या कोई और ही हैं!

अक्सर मेहमान के घर में दाखिल होते ही वे बीमार होजाया करती हैं और उनके स्वभाव में रूखापन भी कुछ अधिक आ जाता है। औसतन उन दिनों हमारे घर में बच्चे ज्यादा पिटा करते हैं, बर्तन अधिक टूटा करते हैं और दाल-शाक में मिर्चें अपनी उपस्थिति ज़ोर-शोर से सूचित किया करती हैं। अक्सर मेहरी को इन दिनों जवाब दे दिया जाता है, और हमारी श्रीमतीजी जो आये-दिन घर की देहली के बाहर पैर तक नहीं निकालतीं, इन दिनों तीन-तीन चार-चार घंटे सहेलियों के यहां जाकर ताश खेलने में अपने बेकार समय का सदुपयोग किया करती हैं!

हमारे घर में वह दृश्य देखने लायक होता है कि जब मेहमान नहाने के लिए लोटा मांगते हैं तो उन्हें कटोरी मिलती है! लगाने को साबुन मांगते हैं तो कपड़े धोने का डंडा पकड़ा दिया जाता है! खुशबूदार तेल मांगते हैं तो सरसों के तेल की बोतल बढ़ा दी जाती है! कहते हैं कि भगवान शिव समुद्र में से निकले विष को कंठ में उतार गये थे, लेकिन वे दिल्ली में हमारे मेहमान बनकर आयें, मेरी चुनौती है कि विष तो दूर, वे हमारी यहां की अमृतोपम दाल तक को गले के नीचे नहीं उतार सकते! न जाने किस बजरी से छान-छानकर श्रीमतीजी इसमें मेहमान के लिए वह कुटकियां मिलाती हैं कि खाने वाले को छठी का दूध याद आजाता है और आगे से मेरे यहां आना तो दूर किनार

भला आदमी दिल्ली की तरफ पैर करके भी सोने की हिम्मत नहीं करता !

आप इसे सुनकर शायद मुझे और मेरी श्रीमतीजी को कोसेंगे और कहेंगे कि हम भी क्या मनहूस आदमी हैं जो मेहमान से यों बिदकते हैं ! यह तो असामाजिकता है ! ऐसा आदमी तो समाज में रहने लायक नहीं !

मैं आपसे विनम्रतापूर्वक निवेदन करना चाहता हूँ कि अपनी सामाजिकता आप अपने तक ही रहने दें ! मैं हरगिज भी इन बातों में आने वाला आसामी नहीं हूँ।

हां, मैं यह जानता हूँ कि मेहमानों की खातिर कर-करके लोग बड़े ऊंचे पदों पर पहुंच गये हैं। अपनी मेहमाननवाजी के कारण ही आज बहुत से साधारण आदमी नेता बने हुए हैं। लोगों को चाय पिला-पिलाकर वकीलों ने अपनी वकालत जमा ली है, डाक्टरों की आमदनी बढ़ गई है, लेखकों की रचनाएं संपादकों को पसंद आने लगी हैं ! यही नहीं, बेकार आदमी बाकार होगये हैं, ठेकेदारों को दूने ठेके मिलने लगे हैं और कहां तक कहूँ चोरबाजार करने वालों ने भी अपनी मिलनसारी और मेहमाननवाजी से लाखों के बारे-न्यारे कर डाले हैं !

तो क्या आप समझते हैं कि मेरे मन में ऐसे कोई अरमान नहीं हैं ?

हैं, जरूर हैं ! पर भाई मेरे, मैं कुछ अपनी और कुछ अपनी 'उन'की सुनहली आदतों से मजबूर हूँ ! हां, ऐसे नुस्खे की तलाश में अवश्य हूँ जिससे बिना दैहिक और आर्थिक कष्ट उठाये, मेहमान की जाति का पूरा-पूरा फायदा उठाया जा सके। देखो, भगवान कभी-न-कभी तो सुनेंगे ही !

नौकर ने नाक में दम....!

"चतुर बुद्धा ने इस कमाल से घर में अपनी 'पोजीशन' मजबूत की है कि अगर हम उससे कुछ कहते हैं तो उसकी 'बीबीजी' हमारे सिर हो जाती हैं, और बीबीजी ही कभी उसे डांटने लगती हैं तो बच्चे सर पर आसमान उठा लेते हैं। कभी-कभी मैं सोचता हूँ कि वह तो खैर हुई जो बुद्धा ने पिछले आन्दोलनों में भाग नहीं लिया! सच कहता हूँ कि अगर वह कहीं राजनीति में पड़ गया होता तो आज कहीं का 'मिनिस्टर' हुआ होता!"
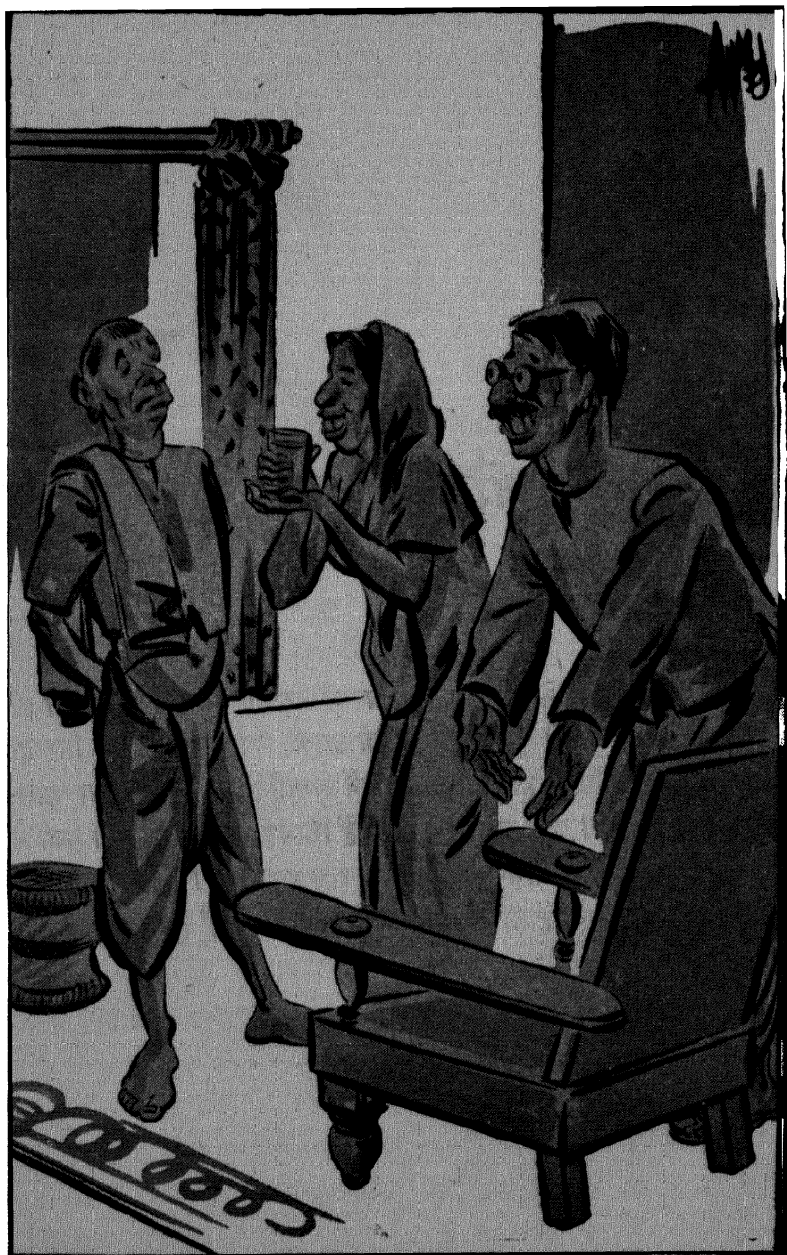
"आइए बाबू बुद्धसेन, आप क्यों तकलीफ करते हैं, यहां विराजिए, लीजिए जल पीजिए।"

६

हमको तो भगवान ने नाहक मनुष्य बनाया। यह भटकी हुई जीवात्मा तो किसी भी पशु-पक्षी के चोले में आसानी से फिट हो सकती थी। भला बताइए, जन्म मिले मनुष्य का और सामना करना पड़े मुसीबतों का! यह भी कोई बात हुई?

पर ख़ैर, जब सातवें आसमान पर बैठे हुए अल्लाताला और कमल की पतली डंडी पर आसन जमाये हुए बूढ़े ब्रह्मा बाबा ने, बिना विधान-शास्त्रियों से सलाह लिये हुए आदमी बना ही डाला तो कम-से-कम उन्हें इतनी कृपा तो करनी ही चाहिए थी कि इस ५ फुट ६ इंच के बिना पंख-पूंछ वाले प्राणी को और सब नियामतें बख्शते, पर मेहरबानी करके उसे अक्ल तो नहीं ही देनी चाहिए थी। इस गरीब को अक्ल क्या मिली, यह समझिए कि सब कुछ चौपट होगया!

अब अक्ल के मारे इस आदमी की कोई एक मुसीबत हो तो बयान की जाय, कोई एक परेशानी हो तो उसका ज़िक्र भी हो, इस समय तो हाल यह है कि इस अक्लवर ने अपने ऊपर बुद्धिमानी का लिहाफ इस कदर लपेट लिया है कि उसकी सही सूरत नजर ही नहीं आती!

एक युग था जब वह गुफाओं में आराम से रहता, शिकार करता और ठाठ से पड़ा-पड़ा खुर्राटे भरा करता था—न ऊधौ का लैन और न माधौ का दैन! पर अक्ल जो आई तो सब चौपट कर दिया! सभ्यता आई, सोसाइटी आई, समाज बना और इज्जत-आबरू की चाह होने लगी। और इस सब का परिणाम हुआ कि मकड़ी अपने जाले में खुद ही उलझ गई! अब तो हाल यह है कि आदमी समाज से परेशान है,

सभ्यता से परेशान है, सोसाइटी से परेशान है ! और-तो-और अपने बीवी-बच्चों से भी उसे चैन नसीब नहीं ! परेशानी की इस कहानी का सिलसिला यहीं समाप्त नहीं होता ! आप हैरान होंगे कि जिसे आज रखा और कल निकाला जा सकता है, उस नौकर के मारे भी आदमी की नाक में दम है !

आप कहेंगे कि नौकर और नाक में दम ! भई, यह भी एक ही रही ! पर यकीन मानिए कि इसमें तिल-भर भी झूठ नहीं। नौकर की परेशानी आज सबसे बड़ी परेशानी है।

हालांकि यह समझिए कि लड़ाई और मंहगाई ने कचूमर निकाल रखा है, और हाल पतला क्या कहूँ करीब-करीब खस्ता होचला है, मगर लटा हाथी भी आप जानते हैं बिटौरा होता है, तो पुश्तैनी रईसी आदमी की क्या कभी जाती है ? कुछ और न हो घर में कम-से-कम एक नौकर तो होना ही चाहिए !

और साहब, आप कुछ भी कहें, बिना नौकर के आज के हम 'जैन्टिलमैन' काम भी तो नहीं चला सकते। माना कि शाक-भाजी आप खुद ही ले आते हैं, और माना कि आपको खुद ही बाजार से सौदा-सुलुफ करने का शौक है, लेकिन यह तो बताइए कि आप कोट-पैन्ट पहनने वाले १२५) के बाबू क्या चक्की पर खुद आटा पिसाने जाना मंजूर करेंगे ?

मान लिया कि वह भी आप साइकिल के कैरियर पर कनस्तर टिकाकर, जरा गर्दन झुकाकर आसानी से कर लेते हैं; और मान लिया कि क्लाथ राशन की दूकान से कपड़ा आपकी श्रीमतीजी खुद ही आप से लाख दर्जे अच्छा ले आती हैं; और यह भी माना कि हफ्ते का राशन भी आप नमक-मिर्च की तरह आसानी से झोले में दबा लाते हैं, लेकिन यह तो बताइए, उस एक बोतल मिट्टी के तेल के लिए कनस्तरी पकड़-कर आप दोनों में से कौन लाइन में लगने को तैयार है ? जहां तक मेरा सवाल है मैं तो अन्धेरे में राम नाम जपना ज्यादा पसंद करूंगा, बजाय इसके कि श्रीमतीजी से इसकी चर्चा करूं और अपनी शामत को खुद ही दावत दूँ ! और मेरे बारे में तो आप हमेशा के लिए ध्यान रखिए कि मैं तो १०० ओं फूट जाने पर ही किसी काम के करने को

राजी होता हूँ, नहीं तो अपना आदर्श सिद्धान्त तो यह है कि

अजगर करें न चाकरी, पंछी करें न काम।
दास मलूका कह गये, सब के दाता राम॥

फिर आप ही बताइए कि हम-जैसे दो चार यार-दोस्त जब आपके यहां दर्शन देने खुद ही तशरीफ ले आयें तो भले आदमी होने के कारण, आप और कुछ न सही, गरम पानी पिलाना तो अपना फर्ज समझेंगे ही ? अब बताइए कि उस समय आप क्या खुद ही झाकरी साफ करेंगे और दूध खत्म होगया हो तो मेहमानों पर सूना घर छोड़-कर खुद ही दौड़े-दौड़े बाज़ार जायंगे ? कभी नहीं। उस समय तो आपको मेरी ही तरह मेज पर टांगें फैलाकर 'बुद्धा' को ही आवाज़ देना अधिक पसंद आयेगा।

या छोड़िए, इस २०वीं सदी में दोस्तों को आप ज्यादा मुंह लगाना पसन्द नहीं करते, लेकिन मुझे पूरा विश्वास है कि आपकी श्रीमतीजी आपके इस आदर्श के पीछे अपनी सहेलियों को नहीं छोड़ सकतीं। 'वे' उनके यहां ठाठ से जायेंगी और उन्हें अपने यहां सादर बुलायेंगी भी ! जहां तक श्रीमतीजी का सम्बन्ध है, आप बला से फटे हाल रहें, मगर 'वे' घर से बाहर, खास तौर पर सहेलियों या रिश्तेदारों के सामने, अपने 'स्टैन्डर्ड' को तनिक भी गिरा हुआ बर्दास्त नहीं कर सकतीं !

अब आप खुद पसंद कर लीजिए कि जब 'वे' अपनी सहेलियों के यहां जाने लगें तो फल-मिठाई की तश्तरियों के साथ छोटे मुन्ने को संभालने के लिए आप एक सेवक की आवश्यकता अनुभव करते हैं या ऐसे नाजुक मौके पर खुद स्वयंसेवक बन सकने की हिम्मत आप में है ?

तो इन्हीं महासंकटों से परित्राण पाने के लिए हमने अपने यहां बाबू बुद्धिसेन बनाम बुद्धा को, नौकर क्या कहें, मालिक रख छोड़ा है !

बुद्धा साहब जब आये-आये थे तो इनकी सेवा-चाकरी का क्या कहना था ? पहले उठना, बाद में सोना, कम खाना और जो दे दें, उसी में मगन रहना ! कोई एक खूबी हो तो कहा जाय ? काम करने में चुस्ती और मुस्तैदी तो इस कदर थी कि कहे पर काम किया तो क्या किया ? इशारों पर नाचते थे इशारों पर !

कुछ ही दिनों में हजरत हमारे परिवार के अंग बन गये। हम उनपर प्रसन्न रहने लगे। उनकी 'बीबीजी' का दुलार उन्हें प्राप्त होगया, बच्चे उनसे हिल गये, और हमारे घर-बाहर की अच्छी जानकारी उन्हें होगई।

यह समझिए कि हम बुद्धा के भरोसे निश्चिन्त होगये। लेकिन जिस दिन से हमारी निश्चिन्तता की बात बुद्धा की बुद्धि में भी आगई, बस, उसी दिन से हमारी परेशानियों का सिलसिला भी शुरू होगया!

बुद्धा ने धोती छोड़कर पाजामा अपनाया तो हम खुश हुए, और जब उसने हमारी अधबरती पतलून पर भी एक दिन हाथ साफ किया तो हमने गिला नहीं माना, लेकिन जब उसने एक दिन यह कहा कि बाबूजी २०) में मेरा काम नहीं चलता, या तो ३५) कीजिए नहीं तो मुझे किसी और को बाबूजी कहना पड़ेगा, तो हमारे कान एक-दम खड़े होगये!

पर क्योंकि बुद्धा के बिना हम अपंग थे, इसलिए जैसे भीगी बिल्ली चूहों से कान कटाती है, वैसे ही हमने चुपचाप ३५) मंजूर कर लिए और पुण्य लूटने की खातिर अपने मन में यह भी सोच लिया कि आखिर २०) आजकल होते ही क्या हैं?

लेकिन बुद्धा कोई बुद्धू तो है नहीं! वह फौरन हमारी नस पहचान गया! अब तो वह कम्बख्त काम के दाव ही नहीं आता। दो-दो तीन-तीन आवाजें पी जाना तो उसके बायें हाथ का खेल था। चौथी-पांचवीं आवाजों पर भी तबियत हुई तो हाजिर हुआ, और नहीं तबियत हुई तो जैसे हमारे घरों में स्त्रियाँ फकीरों को 'हाथ खाली नहीं हैं' कहकर टाल देती हैं, वैसे ही बाबूजी ने आवाज दी तो बीबीजी का काम कर रहा हूं और बीबीजी ने आवाज दी तो बाबूजी का काम कर रहा हूं, कहकर, वह टाल बताता है कि कुछ कहते नहीं बनता!

चतुर बुद्धा ने इस कमाल से घर में अपनी पोजीशन मजबूत की है कि अगर हम उससे कुछ कहते हैं तो उसकी 'बीबीजी' हमारे सिर हो जाती हैं और अगर बीबीजी ही कभी उसे डाटने लगती हैं तो बच्चे सर पर आसमान उठा लेते हैं! कभी-कभी मैं सोचता हूँ कि वह तो खैर हुई, जो बुद्धा ने पिछले आन्दोलनों में भाग नहीं लिया, सच कहता

हूँ कि अगर वह कहीं राजनीति में पड़ गया होता तो आज कहीं का 'मिनिस्टर' हुआ होता !

अभी पिछले दिनों की बात है, चार दोस्त घर पर आगये। हमने बुद्धा से कहा, "भई जा, पानी गरम करने रख दे और अपनी बीबीजी से बोल कि साथ के लिए कुछ फुर्ती से तैयार करदें।"

बुद्धा को शायद उस वक्त सिनेमा जाना था। उसे बे-वक्त की यह खतिरदारी बिलकुल पसन्द नहीं आई। बोला, "बाबूजी, पानी तो अभी रखे देता हूँ, पर बीबीजी की तबियत आज कुछ ठीक नहीं है।

मैं जानता था कि उनकी तबियत को कुछ भी नहीं हुआ, पर बुद्धा से क्या कह सकता था, बोला, "जा देख तो सही, तबियत ठीक है।"

तो दोस्तों की तरफ मुँह करके निहायत भला आदमी-सा बन कर बोला, "बाबूजी तो घर की बिलकुल परवाह ही नहीं करते। कई दिन से उनकी तबियत खराब चल रही है। पर वह तो यों कहो कि बीबीजी साक्षात् लक्ष्मी का अवतार हैं जो किसी से कुछ कहती-सुनती नहीं। आज जब बिलकुल तबियत गिर गई है तो क्या करें ? इस कदर सिर में दर्द और हरारत है कि मैं कुछ कह नहीं सकता।

दोस्त लोग चाय को भूल गये और उलटा मुझे ही सख्त-सुस्त कहने लगे। बेचारे अपना-सा मुँह लेकर लौट गये। मुझे ऐसा गुस्सा आया कि बुद्धा को अभी गोली मारदूँ। तभी श्रीमतीजी कहने लगीं "चलो रहने दो, आखिर क्या बिगड़ा, इस राशन के जमाने में कुछ बचा ही तो !"

झुँझलाकर कई बार सोच चुका हूँ कि इसे जवाब दे दिया जाय। पर जब-जब यह सवाल उठता है तब-तब अक्सर घर की 'केबिनेट' में फूट पड़ जाती है। जब कभी पति होने के नाते अपने विशेषाधिकार का प्रयोग करना चाहता हूँ तो सोचता हूँ कि आखिर नौकर के बिना काम चल भी तो नहीं सकता ! न जाने कौन कैसा आये, और आये-ही-आये, इसकी क्या गारण्टी है ?

फिर बुद्धा की खूबियों का भी खयाल आता है, वह सब-कुछ हो चोर नहीं है। फिर उसे ऐतराज तो छू भी नहीं गया। 'पीर, बावर्ची,

भिश्ती, खर' वाली जो कहावत है वह बुद्धा जैसे लोगों को देखकर ही ईजाद हुई होगी।

पर क्या कहें, आजकल बुद्धा के पर निकल आये हैं। कामचोर तो क्या कहूँ, वह मौजी होगया है। बिलकुल ऐसा जैसा हिन्दी का कलाकार! उसके मन में आये तो कोल्हू के बैल की तरह दिन-भर लगा रहे और मन में न आये तो बुखार का बहाना करके वह लम्बी ताने कि कुम्भकर्ण भी मात होजाये। कहो तो उससे चाहे जो कहे जाओ, गीता के स्थितप्रज्ञ की तरह सुनता रहे और चेहरे पर एक शिकन भी न आने दे और न कहो तो वह 'कम्युनिस्ट' बन जाय कि मारे तर्क-कुतर्कों के आपका बोल बन्द करदे। कभी तो आपको वह इज्जत बख्शे कि आप थोड़ी देर के लिए खुद को दूसरा शहंशाह ही समझने लगें और कहो तो ऐसी किरकिरी करे कि आपको कहीं मुँह दिखाने की ही गुँजायश न रहे।

अब आपसे क्या कहूं, हाल यह है कि न उसे निकाले चैन है, न रखे चैन है! और वह भी भला आदमी न जाने का नाम लेता है और न ढंग से रहने की ही बात करता है! शायद यह जो कहावत है कि "मुझको और न तुझको ठोर" वह हमारे मामले में सोलहों आने सही है।

कवि-सम्मेलनों का धन्धा !

"कवि-सम्मेलनों के लिए आपको चाहिए ही क्या ? बस, एक जोड़ी पोशाक और एक जोड़ी कविता ! इन्हीं दो जोड़ियों के बल पर आप कवि-सम्मेलन का दंगल फतह कर सकते हैं। और अगर दंगल फतह होगया तो फिर क्या है ? फीस और किराया तो पिट जाने पर भी मिला करता है। लेकिन अगर कहीं तालियां जरा जोर से पिट गईं तो इनाम-इकराम लीजिए, मैडल दुशाले लीजिए और अगर कोई आँख का अन्धा और गाँठ का पूरा फंस गया तो बस जनम-भर मौज किये जाइए।"
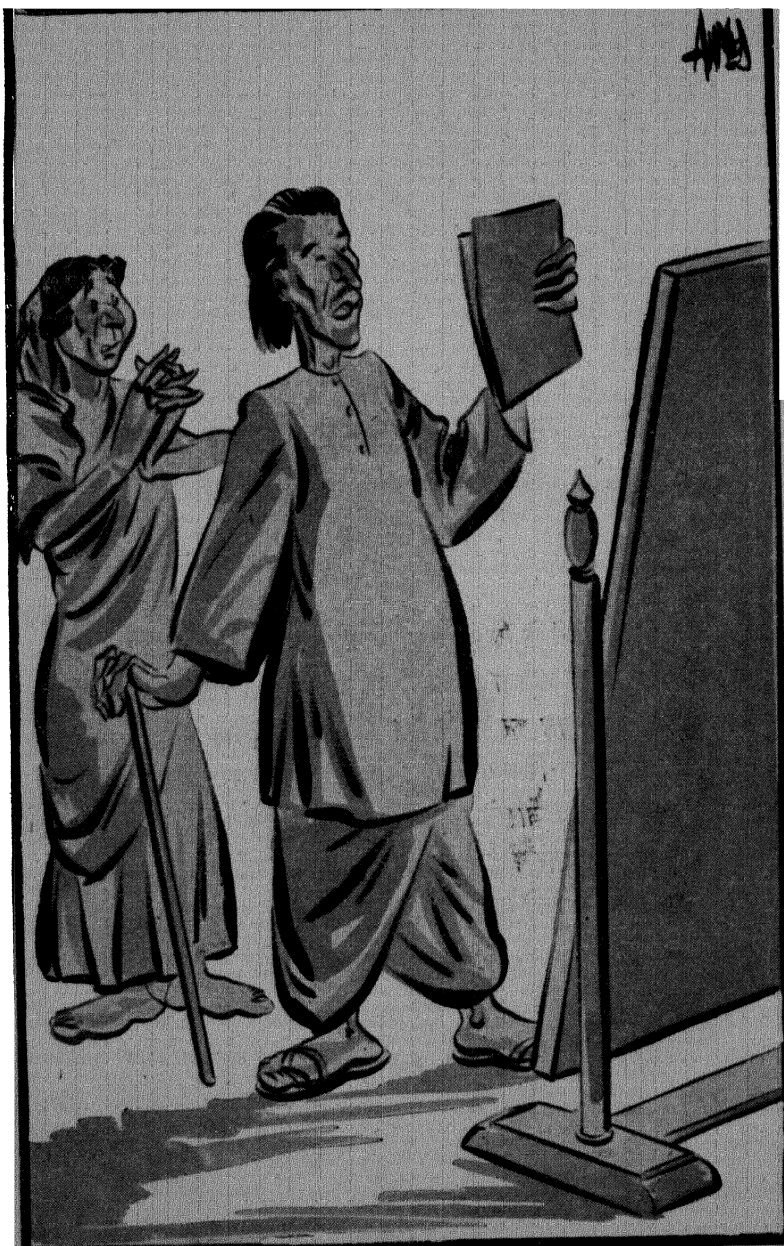
"आप मेरी तरह से एक आदमकद आइना अपनी बैठक में लगाइए, कविता लेकर उसके सामने बड़ी शान से खड़े होजाइए और समझ लीजिए कि घर में ही कवि-सम्मेलन होरहा है!"

७

आपने धन्धे-रोजगार बहुत-से देखे-सुने होंगे, लेकिन जिस अनूठे व्यवसाय की तरफ मैं इशारा करना चाहता हूँ, वह ऐसा लाजवाब है कि दुनिया में उसकी मिसाल ढूढ़े नहीं मिल सकती !

सोने-चाँदी के सट्टे से लेकर नमक-मिर्च की दूकानदारी तक जितने भी धन्धे आज दिन हैं, उन सब में थोड़ी या बहुत, पूंजी की आवश्यकता होती ही है। लेकिन जिस रोजगार के बारे में कि अभी आपसे मैं जिक्र करूँगा उसमें पूंजी की बिलकुल ही आवश्यकता नहीं ! बल्कि सचाई तो यह है कि पूंजी का होना ही इस रोजगार को उलटा हानि पहुँचा सकता है !

कोई काम लेकर बैठिए, एक ठीया तो चाहिए-ही-चाहिए। मतलब यह कि दूकान या गोदाम मिलना चाहिए, आफिस या कमरा चाहिए और आप जानते हैं कि आजकल लूटने पर माल मिल सकता है, भागने पर बहादुरी मिल सकती है, लेकिन रहने को मकान कहीं नहीं मिल सकता ! पर वाह रे मेरे नये रोजगार ! इसमें आपको किसी किस्म के मकान, दूकान या साइनवोर्ड की आवश्यकता नहीं ! बिना किसी 'लेटरहेड' या लिफाफे के आपकी खतो-किताबत जारी रह सकती है और बिना 'कैशमेमो' काटे आप इस नये चोरबाजार में साहूकार हो सकते हैं।

यहां इस बात की भी आवश्यकता नहीं कि आप टीमटाम से रहें और कुछ पढ़े-लिखे-से भी दिखाई दें ! यह रोजगार तो चन्द चतुरों ने वह कमाल का निकाला है कि आप जितने अधिक फटे हाल

होंगे, जितने अधिक अस्त-व्यस्त दिखाई देंगे और जितनी अधिक अट-पटी या बेतुकी बात कर सकेंगे, उतने ही अधिक मुनाफे में रहेंगे !

मज़ाक नहीं करता। मेरी बातों को आप शेखचिल्लीपन न समझिए। ईमान से, ऐसा प्रतिष्ठित व्यवसाय जिसमें धन और यश दोनों एक साथ ही प्राप्त होते हों, दुनिया में शायद ही कोई दूसरा हो। और, इस जैसा निर्मल पेशा तो दूसरा है ही नहीं !

हमारी वर्णमाला में जो क, ख, ग, घ, न पढ़ाये जाते हैं, आपने कभी सोचा है, उनका एक गूढ़ार्थ भी है ? यानी पहले 'क'माओ, फिर 'खा'ओ, फिर 'ग'हने बनवाओ, फिर 'घ'र खड़ा करो और तब 'ना'म करो। आप समझे, मतलब यह है कि इस काले सिर वाले आदमी का अन्तिम लक्ष्य नाम पैदा करना ही है। नाम-रोशन करने के लिए लोग बदनामी तक से नहीं डरते। कम्बख्त कहते हैं, 'बदनाम भी होंगे तो क्या नाम न होगा ?'

तो, इस नये रोजगार में बस नाम-ही-नाम है ! अगर किसी तरह आपका नाम होजाता है, तो घर, गहने, खाना और कमाई तो सब उसी में से आप-ही-आप आ जुटते हैं।

आप शायद इस लम्बी-चौड़ी भूमिका से ऊब चले हों और जल्द-से-जल्द इस अनोखे रोजगार की तह में पहुँचना चाहते हों, लेकिन बात यह है कि मैं करूँ भी तो क्या ? इस रोजगार की खूबियों पर मैं इतना रीझा हुआ हूँ जितना कि पंडित सुन्दरलालजी भी 'हिन्दुस्तानी' पर क्या रीझे होंगे !

अक्सर दूसरे व्यापारियों के बारे में आपने यह शिकायत सुनी होगी कि वह समाज से कुछ अलग-अलग-से रहते हैं ! वह भले कि उनकी दूकान भली, न किसी के लेन में, न किसी के देन में। कहां क्या होरहा है इसकी जैसे कोई खबर ही नहीं। कहना चाहिए कि उनकी दुनिया बस अलग ही होती है।

लेकिन यहाँ के रोजगारियों का हाल न पूछिए। काजीजी दुबले क्यों, कि शहर के अंदेशे से। मास्को में गोला गिरेगा और छत यहां की उड़ जायगी ! जुकाम स्टालिन होगा और छींकें यहाँ आने लगेंगीं। गरज यह कि कहीं महामारी पड़े, कहीं ज्वालामुखी फटे, इस

नये रोजगारी को अपने कोमल-से-कोमल बिछौने पर नींद नहीं आ सकती। तन-मन की सुधि बिसर जाती है। रह-रहकर आहों का दरिया उफन उठता है। तरह-तरह के उद्गार फूट उठते हैं! लेकिन यह सब होते हुए भी क्या मजाल जो रोजगार में कहीं कोई खामी आये! बल्कि कहना चाहिए कि यही तो उनके धन्धे का 'सीजन' होता है। देश में जब कोई होनी या अनहोनी घटना घटे, तब यहां ऐसा समझना चाहिए कि कोई नये काम का ठेका जैसे और मिल गया हो!

और परिश्रम। वह तो इस उद्योग में पड़ता ही नहीं। यहां तो बस फुर्सत-ही-फुर्सत है। ऐसी फुर्सत कि आप सबेरे १० बजे सोकर उठिए और शाम को ४ बजे फिर सोजाइए तो भी आपके काम में कोई टोटा होने वाला नहीं है। दिन-भर मटरगश्ती कीजिए और रात को भी घर न आइए तो भी कोई पूछने वाला नहीं है। इस लाइन में आकर आप परम स्वतंत्र हैं। आपके सिर के ऊपर कोई नहीं है! आप बनैले हाथी की तरह निरंकुश हैं, जंगली भैंसे की तरह अबाध हैं। जहाँ कोई नहीं पहुँच सकता, वहाँ आप पहुँच सकते हैं, जो कोई कल्पना भी नहीं कर सकता, वह आप कर सकते हैं!

बस एक बात और। इतनी बेफिक्री और मनचाहा जीवन बिताने पर भी कोई आपकी तरफ उँगली उठाकर देखने वाला नहीं है। कोई निठल्ला और नाकाम बताकर आपसे नफरत करने वाला नहीं है। न धर्म का बन्धन, न कर्म का बन्धन, स्त्री-पुरुप कोई भी हो, यहाँ तो लोग राख के होकर आये और लाख के होकर लौटे हैं।

कहने को तो अभी और भी बहुत सी नई बातें हैं, पर क्योंकि मैं बात को जरा कम सोचने और शीघ्र ही कह डालने का आदी हूँ, इसलिए बहुत संक्षेप में कहता हूँ कि यह नया रोजगार कविता या शायरी करना है! इसमें न कुछ लगाने की जरूरत और न गँवा बैठने का गम! न उम्र की जरूरत न अक्ल की आवश्यकता। आवश्यकता केवल इस बात की है कि जब आप कोई कविता या गीत लिखें, तब यह अवश्य समझलें कि इसे पढ़ने वाले सब-के-सब अज्ञानी नहीं तो कम-से-कम आपसे तो कमअक्ल जरूर ही हैं! और कुछ न सही, उनके अज्ञानान्धकार को दूर करने के लिए ही आपका लिखते रहना बड़ा

जरूरी है। आवश्यकता इस बात की भी है कि जब आप अपनी अनमोल रचनाएँ सुनाएँ तो सुनने वाला चाहे एक हो या हजार हों, आपके हाव-भाव और स्वर में फर्क नहीं पड़ना चाहिए। यही नहीं, आपको हर समय यह बोध रहना चाहिए कि सारा समाज तृणवत् है और यदि किसी चीज की अहमियत है तो बस अहम् की।

कविता लिखने के लिए यह बिलकुल आवश्यक नहीं कि आप पिंगल पढ़े हों या आपने रीति-अलंकारादि का अध्ययन किया हो, अथवा नये-पुराने कवियों की सोहबत ही उठाई हो। सिर्फ आपके लिए आवश्यक यह है कि ऐसी पंक्तियाँ, चाहे तो आप स्वयं जोड़ सकते हों, या अगर सुभीता और पकड़े जाने का खतरा न हो तो दूसरों की भी ले सकते हों कि जिनसे तालियाँ बज सकें!

बस तालियाँ पिटना ही आपकी सफलता की चरम कसौटी है! वह नेता ही क्या कि जिसके भाषण में तालियों की गड़गड़ाहट से शामियाने न उखड़ जायें, वह नर्तकी ही क्या जो दर्शकों के हाथ लाल न करदे और ऐसे ही वह कवि भी क्या जिसकी कविता पर भूचाल न आये, हंगामा न होजाये!

तालियाँ बजवाने का भी अपना एक अलग 'आर्ट' होता है। कवि-सम्मेलनों में तालियाँ वह पिटवा सकता है जिसने रामकृपा से कला से अधिक गला पाया हो, कवि से अधिक जो एक्टर हो, शाश्वत से अधिक जो सामयिक हो, बौद्धिक से अधिक जो रसिक बनने की कोशिश में सफल होगया हो!

और क्या कला और क्या गला! हम तो यह मानते हैं कि यह सब चीजें आत्मविश्वास के वशीभूत हैं! मेरे पास इस कला और गला को मांजने का एक रामबाण उपाय है। वह यह कि आप दूर किसी जंगल में, एक पक्के कुंए में, पैर लटकाकर बैठ जाइए। सिर झुकाकर जल देवता को प्रणाम कीजिए और कहिए आ SSS! बस, उत्तर में कुँआ भी आपसे कहेगा, "आइए भाई साहब, आइए!" इस प्रकार लगातार कुँए में मुँह देकर आप स्वर-संधान किये जाइए और उस अकेले कुँए को आप अपने स्वर-बाणों से भर दीजिए। थोड़ी ही देर में यकीन मानिए, आपको विश्वास हो जायगा कि सचमुच आपकी

आवाज में भी बड़ा दम है.......और सहगल तो मर ही गये, अब दूसरा कौन है जो आपसे बाजी ले सके ! कुछ ऐसा समझ लीजिए कि आपको लगेगा कि कुँए की आवाजों से, संगीत की लहरें-सी फूट रही हैं, उन लहरों से ऋचाएँ-सी निकल रही हैं, उन ऋचाओं से कुछ अर्थ-से प्रतिभासित होरहे हैं और उन अर्थों को व्यर्थ करने की सामर्थ्य किसी भी कर्महीन आलोचक में नहीं है।

अगर आपके आसपास कोई कुँआ न हो और उसमें डूब मरने का खतरा भी आपके सामने हो, तो फिर आप मेरी तरह से एक आदम-कद शीशा अपनी बैठक में लगाइए। कविता लेकर उसके सामने बड़ी शान से खड़े होजाइए और समझ लीजिए कि घर में ही कवि-सम्मेलन होरहा है !

इस प्रकार की साधना के बाद निश्चय ही आपको यह विश्वास होजायगा कि आप कवि बनने की वह सब खूबियाँ रखते हैं जो वाल्मीकि या व्यास में थीं, भास या कालिदास में थीं, सूर या तुलसीदास में थीं ! और आप जानते हैं कि आत्मविश्वास दुनिया में बहुत बड़ी चीज है। जिस दिन आपको यह विश्वास होगया कि आप कवि हैं, बस उसी दिन यह समझ लीजिए कि दुनिया की कोई शक्ति आपको कवि बनने से रोक नहीं सकती। एक नहीं, लाख बनारसीदास आपके पीछे पड़ें, करोड़ों कालिज के लड़के आपका मजाक बनायें, हजार ईर्षालु आपको तुक्कड़ कहें ! मगर कोई आपका कुछ नहीं बिगाड़ सकता। हाँ, आपको नयेपन के पीछे अवश्य दौड़ना पड़ेगा ताकि लोग यह कह सकें कि बात कुछ सुन्दर और अभूतपूर्व तो है, लेकिन वह सुन्दरता और नयापन दूरबीन से देखने पर भी दिखाई न पड़े !

तो मैंने कहा, जितनी भी अटपटी चमत्कारिक, बेतुकी और मुक्त वाणी आप कह सकते हैं, आजकल आप उतने ही बड़े कवि करार दिये जा सकते हैं।

अब आप शायद कहने लगें कि यह तो बड़ा आसान है। मान लो हम कवि तो बन गये, मगर इसमें रोजगार कहाँ है ? यह तो बेकारी का धंधा है, जनाब !

तो में कहूँगा कि श्रीमान् जी वह जमाना तो लद गया कि जब खलीलखाँ फाख्ता उड़ाया करते थे, अब तो कवियों की चाँदी-ही-चाँदी है। इस पिछली लड़ाई में जो बहुत-से उद्योग-धंधों का विकास हुआ है, उनमें एक कवि-सम्मेलन का रोजगार भी है, जो बड़ी तेजी से फैल रहा है और पनप रहा है, और क्योंकि इस ओर अभी भारत के बड़े-बड़े उद्योगपतियों की निगाह नहीं गई है, इसलिए अभी इसमें छुट-भइयों को मुनाफा-ही-मुनाफा है!

आजकल यह रोजगार पूरी तेजी पर है। किसी की जयन्ती हो या कोई कहीं स्वर्गलोक जा पहुँचा हो! कहीं कोई वीर प्रसविनी कायर को जन्म दे, या किसी सुशील के नाक-कान छेदे जा रहे हों! मारवाड़ी मित्र-मण्डल का जलसा हो या चर्मकारों ने अपनी चौदस मनाई हो... कार्यक्रम में आपको कवि-सम्मेलन अवश्य दिखाई दे जायगा।

कवि-सम्मेलनों के लिए आपको चाहिए ही क्या? बस, एक जोड़ी पोशाक और एक जोड़ी कविता! इन्हीं दो जोड़ियों के बल पर आप कवि-सम्मेलन का दंगल फतह कर सकते हैं! और अगर दंगल फतह होगया तो फिर क्या है, फीस और किराया तो पिट जाने पर भी मिला करता है। लेकिन अगर कहीं तालियाँ जरा जोर से पिट गईं तो इनाम-इकराम लीजिए, मैडल-दुशाले लीजिए और अगर कोई आंख का अंधा और गाँठ का पूरा फँस गया तो बस जनम-भर मौज किये जाइए!

अगर कोई तकदीर का बन्दा न भी फँसे तो क्या हर्ज है? आप दूसरों के नाम से कविता लिखिए, करारे पैसे मिलेंगे। शादियों के सेहरे बनाइए, नामा आयेगा। कविता पुस्तकों को दानियों को समर्पित कीजिए, अच्छी रकम हाथ लगेगी। और सबसे ऊपर यह कि एक किताब छपा-कर सिनेमा या रेडियो में ले दौड़िए, बस स्टार बन जायंगे और नौसिखिये लोगों से रुपया ऐंठने का एक अच्छा साधन प्राप्त हो सकेगा।

लेकिन एक बात याद रखिए, आप करिए चाहे कुछ, रोजगार आपका तभी फूले-फलेगा, जबकि आप कहते यह रहें कि हम तो सरस्वती के सेवक हैं, हमें लक्ष्मी से कोई वास्ता नहीं। फिर देखिए कि चाँदी आपके पास स्वयं खिची चली आती है या नहीं!

बस की सवारी....!

"नाम ही इसका बस किसी ने छाँटकर 'बस' रख छोड़ा है। यानी बस, खबरदार! दौड़े-दौड़े आइए, घंटों लाइन में लगे रहिए, फिर भी, इस बात का कोई भरोसा नहीं कि बैठने को तो क्या, लटकने को जगह मिल ही जायगी!"

"हम रह जाते हैं और हमारी देवीजी बैठ जाती हैं !"

८

नाम ही इसका बस किसी ने छाँटकर 'बस' रख छोड़ा है। यानी बस, खबरदार! दौड़े-दौड़े आइए, घंटों लाइन में लगे रहिए, फिर भी, इस बात का कोई भरोसा नहीं कि बैठने को तो क्या, लटकने तक को जगह मिल ही जायगी! हर वक्त इस बात का खतरा सिर पर सवार रहता है कि न मालूम कब 'कण्डक्टर' महोदय अंगुली उठाकर कह बैठें—"बस, बाबूजी! 'बस' में जगह नहीं रही!"

यह समझ लीजिए कि राम-कृपा से कोई ३४-३५ वर्ष की उम्र होने आई, हमने तो ऐसी कोई बेसब्री की सवारी देखी नहीं! बचपन में अपने गाँव से यही कोई दो-दो आने में बैठकर चौदह-चौदह मील दूर शहर आया करते थे। अहा, इक्के की सवारी भी क्या रईसी सवारी होती थी! चं-चूं चर्र-चूं छुन्न-छम्म छुन्न-छम्म ऐसी मस्तानी चाल से इक्का चलता था कि यदि आजकल के किसी कवि को अन्धेरे में उसकी ध्वनि सुनाई दे जाती तो सचमुच वह यही समझ बैठता कि कोई 'विधुवदनी मृगशावक लोचनी' कहीं पनघट पर तो नहीं जा रही? और सिर्फ दो आने में उस इक्के पर अपना एकाधिकार कितना होता था कि रास्ते में जहाँ कहीं कोई कुंआ या प्याऊ देखी तो फौरन हुक्म चढ़ा दिया, "इक्के वाले, जरा रोकना भाई!" और खाली पानी की ही बात हो सो नहीं। चने का खेत देखा तो उतर पड़े, गाजर-मूली या मटर-टमाटर नजर आये तो इका रुकवा लिया। लेकिन अब, जनाब, इस नये जमाने में एक आपकी 'बस' की सवारी है कि हम घंटों उसके इन्तजार में लाइन में लगे रहें इसका तो कोई एहसान नहीं, लेकिन बदकिस्मती से 'बस' के सर्राटे में अगर हमारा बेग खिसक जाता है या

सोला कैप उड़ जाती है, या, भगवान न करे, हम रह जाते हैं और हमारी देवीजी बैठ जाती हैं, तो कण्डक्टर से आप लाख खुशामद कीजिए वह महाशय रुकने का नाम भी लेने वाले नहीं ! इसीलिए तो कहता हूँ कि और की तो क्या चली, हम जैसे भले आदमियों के लिए तो 'बस' पकड़ना भी एक मुसीबत का काम है !

जी हाँ, मुसीबत का काम है ! वह इस तरह कि क्या हुआ कि हमारी गाँठ में टके नहीं हैं और हम एक दफ्तर में क्लर्क जैसी नौकरी करते हैं, लेकिन कहलाते तो बाबू हैं ! और हम न सही, हमारे खानदान वाले तो रईस थे ही—और हिन्दुस्तान में ऐसा कौन है जो खानदानी रईस न हो ? सो श्रीमानजी, हम सवेरे उठते उस समय हैं जब श्रीमती जी पतीली में दाल चढ़ा देती हैं, और नहाते उस समय हैं जब थाली में रोटियाँ ठंडी होने लगती हैं। इसी तरह आप सोच सकते हैं कि 'बस-स्टैंड' पर हम कब पहुँचते होंगे !

अगर हमें बड़े बाबू की घुड़की का कोई खतरा न हो तो पहली से न सही दूसरी से, दूसरी से न सही तीसरी से, आखिर 'लंच-टाइम' तक खरामा-खरामा दफ्तर पहुँच ही सकते हैं, लेकिन पता नहीं हमारे बड़े बाबू बाल-बच्चे वाले नहीं हैं या भगवान ने आराम उनकी तकदीर में ही नहीं लिखा है, वह न जाने हमारी तरह से क्यों नहीं सोचते, और हम जैसे शरीफ लोगों को अकारण ही घूर-घूरकर देखते रहते हैं !

तो यह समझ लीजिए कि उसी वक्रदृष्टि का खयाल रखते हुए ही 'बस' वालों का मुँह जोहना पड़ता है कि भाई जरा टाइम पर पहुँचा दिया करें। हाँ, दूर से आते देखें तो जरा रुक जाया करें और सीट न भी हो तो हमें कहीं-न-कहीं टिका-लटका ही लिया करें ! लेकिन ये 'बस' वाले हैं कि जैसे मुरव्वत का पाठ इन्होंने सीखा ही नहीं। हम लाख मिन्नत और आरजू करते ही रह जाते हैं लेकिन 'बस' है कि जैसे सट्टे में लक्ष्मी खिसक जाया करती है बस, उसी तरह वह भी हमारे देखते-देखते आँखों के आगे से सरक जाया करती है !

अभी कल की बात है, १०॥ होगये थे और अपने राम अपनी सुस्ती और मस्ती पर खीझते-रीझते 'बस' की ओर लपक रहे थे। वहां पर पहुँचते ही क्या देखते हैं कि कोई बीस आदमी एक साथ अकेले

दरवाजे के अन्दर घुसने की जी-तोड़ कोशिश कर रहे हैं! अच्छा खासा एक मल्लयुद्ध-सा होरहा है। किसी की पगड़ी उतरकर लम्बी होगई है तो किसी का कोट सींवन से चटक रहा है! नौजवान बूढ़ों को ढकेल रहे हैं और वृद्ध कह रहे हैं, 'देखो हमारा भी पानी! हमने जितना घी पिया है लड़को, तुम्हें उतना पानी भी नसीब नहीं हुआ होगा।' कोई नीचे से घुस रहा है तो कोई ऊपर से छलाँग मारने की कोशिश में है और कोई पैंतरा बदलकर बगल से हाथ मारना चाहता है! बस, यह समझ लीजिए कि उस दर्शनीय दृश्य का ठीक-ठीक वर्णन नहीं किया जासकता। आपने शायद एक खेल देखा होगा। लोग बन्दरों के बीच में एक गुड़ की भेली रख देते हैं और उसके आस पास १०-२० डंडे बिखेर देते हैं। तो जिस तरह उस अकेली गुड़ की भेली के पीछे बन्दरों में जैसे आपस की मारकाट होती है ठीक वही हाल उस 'बस' का था। अगर दूसरा कोई अजनबी आदमी देखता तो यही सोचता कि शायद इसमें कोई चाँदी की सिल या रुपये बिखरे पड़े हैं कि जो पहले पहुँच ले वही हाथ मार ले! तभी तो इतनी हाय-हाय है!

अगर शहर में कहीं दंगा होगया होता या कर्फ्यू लगने वाला होता और यह आखिरी 'बस' होती तो भी इस धक्कम-धक्के की बात कुछ समझ में आती, लेकिन सरे बाजार, दिन के १०॥ बजे, पुलिस स्टेशन के पास, चौराहे के सिपाही से चार कदम पर, जब यह घटना घटती है तो बताइए आप क्या सोच सकते हैं?

लेकिन आप जानते हैं कि कहने की बात और होती है और करने की और! हाथी के दाँत खाने के और होते हैं और दिखाने के और! हमने भी सोचा कि इस कोरी आदर्शवादिता में क्या लोगे? अगर यह १०॥ बजे वाली निकल गई तो दूसरी से ११॥ बजे दफ्तर लगोगे। ना बाबा! हम भी लेकर बजरंगबली का नाम पिल पड़े और अपनी आदर्शवादिता को यह कहकर चुप कर दिया कि इस 'बस' पर जाने का पहला अधिकार हमारा है, हमें अपने अधिकारों की रक्षा खुद करनी चाहिए। और जो अपने अधिकारों की खुद रक्षा नहीं कर सकता वह कायर है!

हम दंगल में कूद तो पड़े लेकिन जैसा कि गुसाईं तुलसीदासजी कह गये हैं :—

हानि-लाभ जीवन-मरन
जस-अपजस विधि हाथ।

इस 'महासमर' में विजयी होना कोई हमारे वश की बात थोड़े ही थी! अपनी पराजय पर हमें अफसोस तो कम न था, लेकिन तसल्ली इतनी जरूर थी कि इस मोर्चे से सफलतापूर्वक वापस हटने वाले अकले हम ही न थे। हमारे साथ कई लम्बी मूछों वाले, ऊँचे पुट्ठों वाले, चौड़ी छाती वाले और टेढ़ी टोपी वाले भी थे। हमें तो सिर्फ गम इस बात का था कि आज ही जो नये धुले कपड़े निकाले थे उनका इस्तरी-कलफ लप-झप होगया, हाथ की घड़ी का शीशा चटक गया और वह तो भगवान ने खैर की, नहीं तो हमारा मनीबेग (हालांकि उसमें दस-बारह आने के ही पैसे थे) जाते-जाते बच गया!

आप शायद यह कहें कि यह तो सवारियों का कुसूर है कि वे लाइन लगाकर क्यों नहीं खड़ी होतीं? अगर क्यू (लाइन) में खड़े हों तो एक भी दिक्कत न उठानी पड़े।

जी हाँ, 'क्यू' की भी सुनिए। यह हिन्दुस्तान है भाई! यहाँ 'क्यू' का 'व्यू' जरा देर से समझ में आता है। फिर नियम कुछ भी हों, प्राथमिकता औरतों को ही दी जाती है। रेल में टिकट इन्हें अलग से दिया जाता है। डिब्बे इनके अलग और सुरक्षित होते हैं, 'बस' में इन्हें पहले स्थान मिलता है और आगे बैठाई जाती हैं। यह सब देखकर कभी-कभी यह सोचने को मजबूर होना ही पड़ता है कि हमने तो यह नर-देह यों ही धारण की! कम-से-कम 'बस' में स्थान पाने के लिए तो हमें पुरुष की देह की कतई आवश्यकता नहीं थी!

आज नई दिल्ली के बस-स्टेन्ड पर हम पाँच आदमी लाइन में आगे लगे थे, पर 'बस' के आने पर न जाने एक देवीजी कहाँ से आईं और हमारी घंटों से लगी लाइन को बेकार बनाती हुई ठाठ से 'बस' में सवार होगईं। यह पक्षपात 'बस' के बाहर तक ही सीमित हो, ऐसी बात नहीं; उसके अन्दर भी यह हाल है कि पुरुषों की भरी सीट पर महिलाएँ आराम से बैठ सकती हैं, लेकिन महिलाओं की खाली सीट पर हम और आप आसानी से नहीं टिक सकते। इन महिला कण्डक्टरों ने तो इधर और भी गजब ढा रखा है!

हर पहलू से सोचने-विचारने और भुगतने के बाद हम तो इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि भाई 'बस' की सवारी अपने बस की नहीं। यहाँ न यश मिलता है न रस मिलता है। और भरी कम्बख्त इतनी ठसाठस जाती है कि वह तो यह कहो कि हम गाँव से घी मँगाकर खाते हैं, नहीं तो जरूर ही गश आजाय !

लेकिन करें भी क्या ? इसे विज्ञान की तरक्की कह लीजिए या बिजली के आटे या वेजीटेबिल का पुण्यप्रताप समझ लीजिए कि जिसने धोती छोड़कर पाजामा या पैण्ट पहन लिया, या तकदीर का मारा जो गाँव को छोड़कर शहर में १०० रुपल्ली का भी बाबू होगया तो बस, चाहे चार कदम का ही फासला क्यों न हो, बिना 'बस' के साहब टस-से-मस नहीं हो सकते। अब काजीहौज से बारह खम्बा कोई दस-पाँच मील है ? हमारे पूर्वज तो रोज सुबह-शाम इतनी दूर दिशा-मैदान को जाया करते थे, लेकिन एक हम हैं कि आध घन्टे 'बस' का तो इन्तजार कर लेंगे लेकिन १० मिनट में जहाँ आसानी से खरामा-खरामा खाना पचाते हुए पहुँचा जा सकता है, नहीं चल सकते !

हर तरह से समझ-सोचकर हम तो यह देख चुके हैं कि मर्ज़ यह लाइलाज है। दिल्ली में अगर रहना है तो 'बस' के बिना गुजारा नहीं हो सकता और, जैसा कि मैंने कहा, 'बस' हमारे बस की बात नहीं है, देखिए भगवान ही इस गाड़ी को मुसीबत से पार लगायेंगे !

दफ्तर की दुनिया....!

"गधे और घोड़े कैसे एक साथ जोते जाते हैं; बैल और भैंसे की जोड़ी कितनी प्यारी लगती है; एक ही पिंजड़े में कुत्ते, बिल्ली, चूहे और कबूतर कैसे साथ रखे जा सकते हैं, यदि यह देखना है तो आप हिन्दी का कोई अतुकान्त काव्य न पढ़कर मेरे साथ दफ्तर की दुनिया में आइए। जैसी असंगतियां और चमत्कार आप यहाँ पाइएगा वैसी न जैनेन्द्रकुमार के उपन्यासों में मिलेंगी और न आज के छायावादी आलोचकों की रचना में ही !"
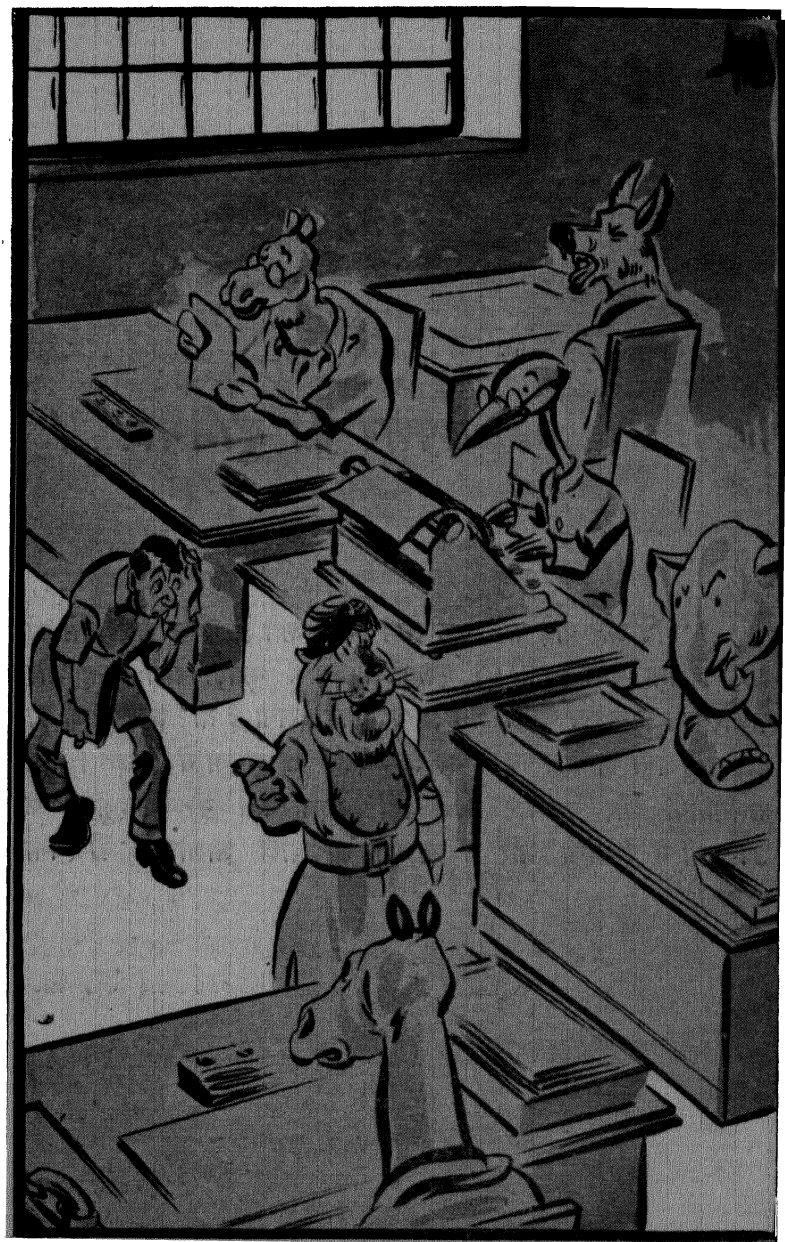
"कोई हाथी जैसा भारी-भरकम तो कोई बिल्कुल ऐसा जैसे रेगिस्तान का ऊंट ! कोई घोड़े जैसा चपल तो कोई टट्टू जैसा अड़ियल, कोई भेड़िए जैसा खूंखार तो कोई कुत्ते जैसा पालतू !

६

आपने लाख दक्षिण के मन्दिर और उत्तर के देवता देख डाले हों; हजार महल, मकबरे, किले, मीनार और अजायबघरों में आँख फाड़ी हों; कलकत्ते की चौरंगी, बम्बई की चौपाटी दिल्ली का चांदनी चौक और आगरे के ताजमहल पर चाहे आपकी आंखें फिसल-फिसल कर ही क्यों न रह गई हों, लेकिन अगर आपने एक बार भी कभी दफ्तर की दुनिया के दर्शन नहीं किये, तो समझ लीजिए कि आपका दुनिया देखना बेकार ही गया !

कहते हैं कि मनुष्यों की यह दुनिया विधाता की बुद्धि की उर्वर कल्पना है; सुनते हैं कि विश्वामित्र की महान् खोपड़ी ने भी बूढ़े वशिष्ट से उलझकर एक नई दुनिया बना डाली थी; दौलत की रोशनी में अन्धे अमरीका को भी आजकल कुछ लोग नई दुनिया कहा करते हैं; कवि-लेखक और पत्रकारों की तो दुनिया निराली होती ही है—लेकिन यह जो हमारे हर शहर और कस्बे की छोटी-बड़ी इमारतों में एक अजब ही दुनिया बसी हुई है, पता नहीं वह किस नये विश्वामित्र की छायावादी बहक का परिणाम है कि उसने सारी दुनिया पर और उस के विधि-विधान पर पानी फेर रखा है !

वेद, उपनिषद और धर्मशास्त्रों में लाखों-करोड़ों वर्ष के प्रयत्न से जिस परम तत्व आत्मा का सूक्ष्म अनुसंधान किया गया, और जिसके लिए ऋषि, मुनि, योगी जी-जीकर मरे और मर-मर कर जिये; उसे यहां के छोटे-छोटे क्लर्कों ने तारों में, फाइलों में, रजिस्टरों और आलमारियों में ऐसे सम्हालकर बन्द कर रखा है कि आत्मा क्या

परमात्मा भी आजाय तो पड़ा तड़पता रहे और लाल फीते से बेचारे का उद्धार ही न हो !

बड़ी-बड़ी शाश्वत भावनाएं, रस, छन्द और अलंकार जिनके लिए महाकवि लोग मगजपच्ची करते-करते मर गये यहां हजारों और लाखों की तादाद में 'पिन' और 'टैग' किये हुए पड़े हैं। आजकल के कहानी, उपन्यास और नाटक लिखने वालों को चाहे रात-रात-भर जागते रहने के बाद भी कथानक और पात्र न मिलते हों पर यहाँ पग-पग पर कथानक और कदम-कदम पर पात्रों और कुपात्रों की वह भीड़ भरी है कि बिना पढ़े ही प्रेमचन्द के उपन्यासों का मजा आ जाता है !

जी हां, जहां के लोग औरतों की तरह लड़ें, जहां के बूढ़े बच्चों की तरह टुसकने लगें, जहां के मूर्ख पंडितों को मात दें और जहां के दुष्ट देवताओं की तरह सिंहासन पर बैठकर उन्हींकी तरह ईर्ष्या और द्वेष में पारङ्गत हों, तो बताइए, आप इनमें दिलचस्पी लेंगे या इलाचन्द्र जोशी के मनोवैज्ञानिक उपन्यासों से सिर फोड़ेंगे ?

बताइए गर्मियों में गुलूबन्द लगाये, पैन्ट पर बन्द गले का कोट डाटे, बुशशर्ट के नीचे धोती पहने या कुर्ते पर हैट और आंखों में मोटा-मोटा काजल लगाये देशी बाबुओं की त्रिभुवन-मन-मोहनी सौन्दर्य छटा का अवलोकन करेंगे या बेढब, बेधड़क, बेसड़क, बेगरज बेमरज, बेहरम, बेशरम आदि महाकवियों की रस से चुहचुहाती रचनाएं सुनना पसन्द करेंगे ?

गधे और घोड़े कैसे एक-साथ जोते जाते हैं ? बैल और भैंसे की जोड़ी कितनी प्यारी लगती है ? कुत्ते, बिल्ली, चूहे और कबूतर एक साथ कैसे रखे जा सकते हैं—यदि यह देखना है तो आप हिन्दी का कोई छायावादी महाकाव्य न पढ़कर मेरे साथ दफ्तर में आइए, जैसी असंगतियां आपको यहां मिलेंगी वैसी जैनेन्द्र कुमार के उपन्यासों में भी ढूँढ़ने से न पाइएगा !

हिन्दुस्तान और उसकी समस्याओं को देखना-समझना है तो नाहक गांधी, नेहरू की पुस्तकों में सर खपाते हो ? दफ्तर को देखिए—जैसे भगवान ने अर्वों-खर्वों मनुष्य पृथ्वी पर पैदा किये हैं, मगर क्या

मजाल कि लाख घूँघट वाली अंधेरे में भी अपने पति को पहचानने में गलती कर बैठे—सब सूरत, स्वभाव और व्यवहार में एक दूसरे से अलग! ठीक वैसे ही दफ्तर की दुनिया में दस-बीस नहीं, सैंकड़ों-हज़ारों आदमी एक जैसा काम करते हैं, एक जगह उठते-बैठते हैं, एक-सा वेतन पाते हैं, एक-से क्वार्टरों में भी रहते हैं, मगर क्या मजाल कि वे किसी एक भी बात पर एकमत हो सकें! कहीं भी उनमें एका हो—सब एक-दूसरे से निराले और अजीब! कहिए यही असली हिन्दुस्तान है न?

कोई हाथी जैसा भारी-भरकम तो कोई बिल्कुल ऐसा जैसा रेगिस्तान का ऊँट! कोई घोड़े-जैसा चपल तो कोई टट्टू जैसा अड़ियल! कोई भेड़िये-जैसा खूंखार तो कोई कुत्ते-जैसा पालतू! कोई बैल की तरह जुतने वाला तो कोई बिलाई की तरह मलाई साफ करने वाला! कोई चपरासी की खाल में शेर तो कोई अफसर की खाल में गधा! कोई छैला तो कोई मटमैला! कोई चुप्प तो कोई वाचाल! गरज यह कि विधाता ने अपनी फैक्टरी में आदमी की जाति के जितने मॉडल तैयार किये हैं, दफ्तर के अजायबघर में उन सबके नमूने आपको तैयार मिलेंगे!

लेकिन कहने का मतलब यह नहीं कि दफ्तरी लोग हर बात में एक-दूसरे से पृथक ही हैं। कुछ बातें उनमें असाधारण रूप से सामान्य भी हैं, जैसे सब हैड क्लर्कों से डरते हैं, आफिसरों से काँपते हैं, गालियों का गिला नहीं मानते और खुशामद करने में २५) के चपरासी से लेकर २५००) तक के सेक्रेटरी तक समान रूप से सनद प्राप्त किये हुए हैं! यह ठीक है कि सुपरिन्टेन्डेन्ट या मैनेजर के मारे उनकी धोती ढीली होने लगती है और पैन्ट खिसकने लगता है, मगर दफ्तर में, उनकी कुर्सी के सामने, काम पड़ने पर अदना-से-अदना क्लर्क क्यों न हो, जरा आप खड़े होकर तो देखिए, आपके होश ढीले न करदें तो नाम नहीं! और क्यों न करदें? आप लाख सभाएं कीजिए, प्रस्ताव पास करिए, जलूस निकालिए, सरकार पर जोर डालिए, वह जानते हैं कि राज की कुंजी आज नेहरू के हाथ में नहीं उनकी कलम की नौक में है! यह ठीक है कि घर में बीवी के मारे

और बाजार में साहूकारों के मारे उसका रहना-निकलना दूभर हो रहा है, मगर यह उसकी घरेलू बातें हैं, इनमें दखल देने का आपको कोई हक नहीं, हाँ, बाहर अगर पैन्ट की क्रीज ढीली हों, शेव न बनी हो, बाल रूखे हों, जूते न चमकते हों तो आप शिकायत कर सकते हैं? शनिवार को अगर सिनेमा न जाये, रविवार की शाम का भोजन बाहर न करे, १५ तारीख से पहले ही तनख्वाह समाप्त न होजाये तब आप चाहें तो यह सोच सकते हैं कि बाबू अपने धर्म से डिग गया, नहीं तो वह सत्य सनातन धर्म का अबाध रूप से पालन करता रहता है।

दुनिया में बार-बार युद्ध क्यों होते हैं यह मेरी समझ में नहीं आता। इसे रोकने के लिए व्यर्थ ही करोड़ों डालर यू० एन० ओ० पर खर्च किये जारहे हैं। दुनिया को सहनशीलता और समन्वय का पाठ आज बी० एन० राव की स्पीच से नहीं, दफ्तर के वातावरण से लेना चाहिए। यहाँ गांधी के शिष्य, लेनिन के नाती, चर्चिल के पिट्ठू और गुरूजी के शिष्य एक ही कमरे में आठ घण्टे रहते हैं, मगर कैसी क्रांति, उनमें कभी हाथापाई की भी नौबत नहीं आती। यह नहीं कि वे चुप रहते हों, या बहस न करते हों, अथवा कोई किसी की बात मानने को तैयार हो जाते हों, लेकिन वे बहस के लिए बहस करते हैं, इसलिए बहस करते हैं कि बहस करना फैशन और बड़प्पन की निशानी है!

आपने कभी शालिग्राम की बटिया के दर्शन किये हैं?—गोल, सुचिक्कण और नयनानन्द से परिपूर्ण! तो बस, दफ्तर के बाबू को भी आप एकदम सालिग्रामजी की बटिया ही समझिए। वैसा ही कोने, किनारों से हीन, गोल-सिलपट! वैसा ही चिकना, जिस पर नाम को पानी नहीं ठहरता! वैसा ही देवता, जिसे भूख सताती है न प्यास! वैसा ही पत्थर कि संसार में कुछ भी होता रहे उसके कानों पर जूं नहीं रेंगती। वह भला और उसका कुर्सी रूपी सिंहासन भला! घड़ी ने उठाया, उठा। बीवी ने दे दिया, खा लिया! काम मिला, कर दिया। न मिला, बैठा रहा। डाट लगादी, कांपने लगा। निकाल दिया तो रो पड़ा। साहब की सीधी नजरें हुईं तो फूल गया। बीवी ने जरा हँस कर देख लिया तो गा उठा—

अँखियाँ मिलाके, जिया भरमाके, चले नहीं जाना, हो!

हे हिन्दी के आलोचको....!

"तुमने आलोचना लिखने के लिए वे जो सौ-पचास शब्द अपनी डायरी में नोट कर मेज पर रख छोड़े हैं, मैं चाहता हूँ कि तुम उन सबका एक बार ही मेरी पुस्तक पर प्रयोग कर बैठो!"

"हे हिन्दी के आलोचको, आओ, मैं तुम्हें रास्ता बताता हूं !"

१०

मैं हास-परिहास की कविताएँ अच्छी लिखने लगा। अच्छी ही नहीं, बहुत अच्छी लिखने लगा हूँ। इसके प्रमाण में मैं आपको सम्पादकों के पत्र, कवि-सम्मेलनों के निमन्त्रण और छपी हुई कविताओं के वे सब कटिंग जो मैंने सम्हालकर एक रजिस्टर में चिपका लिये हैं, जब चाहें तब दिखा सकता हूँ।

मेरी सफलता का इससे बड़ा प्रमाण और क्या हो सकता है कि कविता बिना सुने ही लोग मेरी शक्ल पर हँसते हैं, सुनने के बाद ताली पीटते हैं और बाहर निकलते ही उँगली उठाते हैं!

इसीलिए ही कभी-कभी जब सुप्रसिद्ध हिन्दी इतिहासकार आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के असामयिक निधन पर दृष्टि डालता हूँ तो मुझे बड़ी निराशा हो आती है!

हाय! अब शुक्लजी के बिना कौन मेरे स्थान को हिन्दी में स्पष्ट कर सकेगा?

तब, ऐ हिन्दी के नवीन इतिहास लेखको! विधाता की इस भूल को, जो उसने असमय शुक्लजी को उठाकर की है, अपने इस उत्तर-दायित्व को, जो असमय तुम्हारी कलम पर आपड़ा है, क्या तुम निवाह सकने में समर्थ हो सकोगे?

बुद्धिमानी इसीमें है कि तुम इस अवसर से लाभ उठाओ। तुम्हारी लेखनी मेरे विषय में लिखते हुए धन्य हो उठे। तुम लिखो कि "व्यासजी जैसी अमर शक्तियाँ साहित्य के इतिहास में कभी-कभी ही उदित होती हैं, और हिन्दी के इतिहास में तो इने-गिने दो-चार

ही व्यक्ति हैं, जिनका नाम श्रद्धेय व्यासजी के साथ लिया जा सकता है। इस छोटी-सी उम्र में ही उनकी कलम ने जो जौहर दिखाए हैं, ऐसे उदाहरण हमें तो हिन्दी-साहित्य में देखने को नहीं मिले।"

कोई भले कहे कि शुक्लजी नवीन लेखकों के यशगान में बड़े ही कृपण थे, पर आज कहीं वह होते, और मुझे देख पाते, तो विश्वास मानिए कि वे मेरे अन्तर को खोलकर रख देते और लिखते कि "व्यासजी की कविताओं में हमें शिष्ट हास्य की सुन्दर झाँकी मिली। उन्होंने अपरूप वस्तुओं में से हास्य की उद्‌भावना न कर जीवन की हास्योन्मुखी वृत्ति का उद्‌घाटन किया है। क्रोचे के अभिव्यंजनावाद में छायावाद (इम्प्रेशनिज्म) का पुट देकर सामयिक लहरियों से उच्छ्रृंखलित व्यासजी की हास्य-सृष्टि अपूर्व हो उठी है।"

पर शोक ! वह रत्नपारखी न रहे ! तब—

ए नये युग के उदार समालोचको ! तुम अब यह लिखो कि "व्यासजी ने हिन्दी के सारे परिहास लेखकों को १०० कदम क्या १००० मील पीछे छोड़ दिया है। उर्दू के अकबर होते तो दाँतों तले अँगुली दबा जाते। 'हास्यरस' के चुटकुले कहना और बात है, उक्तियों में स्वयं वैदग्ध्य होता है, पर हास्य को विषय और वस्तुओं में बाँधना टेढ़ा कार्य है। व्यासजी ने इस महत्वपूर्ण कार्य को अपने हाथ में लेकर हम लोगों के मस्तक को ऊँचा उठाया है, वे सूर की तरह सरस, तुलसी की तरह व्यापक और बिहारी की तरह प्रिय रहेंगे।"

और ए मेरे आलोचक दोस्तो ! तुम्हारी मित्रता यदि आज के दिन काम नहीं आई तो वह फिर किस दिन काम आयेगी ? अपनी पुस्तक की पहली प्रति मैं तुम्हारे पास भेज रहा हूँ। तुम हिन्दी के पत्रों में वह तूफान बरपा करदो कि कहर मच जाय ! मेरी कविता में जो गुण नहीं हैं उन्हें खोज निकालो। पाठक जो सोच न सकें वह लिख डालो। हे हिन्दी के आलोचको, आओ ! मैं तुम्हें रास्ता बताता हूँ। तुमने आलोचना लिखने के लिए वे जो सौ-पचास शब्द अपनी डायरी में नोटकर मेज पर रख छोड़े हैं, मैं चाहता हूँ कि तुम उन सब का एकबार ही मेरी पुस्तक पर प्रयोग कर बैठो। तुम लिखो—

"व्यासजी अंग्रेजी के यह हैं, फ्रैंच के वह। रूस का अमुक लेखक भाषा-शौष्ठव में व्यासजी से यों पीछे रह जाता है और अमरीकी लेखक अपनी अश्लीलता के कारण हमारे व्यासजी का पल्ला यों नहीं पकड़ सकते।" यही नहीं, तुम यह भी लिखो कि "इधर पच्चीस बरस से हिन्दी में ऐसी दिलचस्प कोई दूसरी पुस्तक नहीं निकली, हम प्रत्येक हिन्दी पाठक का ध्यान इस पुस्तक की ओर आकृष्ट करना चाहते हैं।"

आप क्या हिन्दी के पाठकों की आदत से परिचित नहीं कि वे किसी भले आदमी की कदर नहीं करते। अरे न करें! यदि हम आपस में संगठित हैं तो पाठक हमारा कर ही क्या सकेंगे? आप मेरी कद्र कीजिए मैं आपकी दाद दूँगा। मैं कवि ही नहीं आलोचक भी हूँ। आप मेरी प्रशंसा कीजिए, मैं आपकी तारीफ के पुल बाँध दूँगा। यदि आप कवि हैं तो व्यास और वाल्मीकि से बढ़ा दूँगा। यदि आप इतिहासकार हैं तो विंसेन्ट स्मिथ से भी ऊँचा उठा दूँगा। यदि आप विचारक हैं तो बर्नार्डशा और विनोवा से भी दस हजार मील (आजकल के वायुयानी युग में कदम क्या चीज हैं) आगे बढ़ा दूँगा—'मनतुरा काजी विगोयम तो मरा हाजी विगो'।

मित्रो! मैं चाहता हूँ तुममें से कुछ जान-बूझकर मेरे विरुद्ध लिखना शुरू करदें। क्योंकि मुझे बताया गया है कि यह विरुद्ध आलोचनाएँ प्रचार में बड़ी सहायक होती हैं। तो, हां बनारसीदासजी चतुर्वेदी, एक आन्दोलन मेरे नाम पर भी सही! भाई रामविलास, मैं प्रगतिवादी नहीं हूँ—एक तमाचा मेरे गाल पर भी! मेरी कविता के छन्द-अलंकार, वाजपेयीजी तुम कहाँ हो, तुम्हें पुकार रहे हैं! मैं कनवजिया नहीं हूँ, मेरे पूर्वी मित्रो! तुम कहाँ सो रहे हो? तुम लिखते क्यों नहीं कि—"जिसे देखो आज वही कवि बनने जारहा है। हास्य लिखना तो लोगों ने खिलौना समझ रक्खा है। अभी व्यास नाम के महाशय की एक पुस्तक देखने को मिली। स्वयं लेखक तो अपने आपको न जाने क्या समझे बैठा है, पर असल में ऐसे सस्ते हास्य का नमूना हमें तो अन्यत्र दिखाई नहीं दिया। जनाब को पत्नी के सिवाय दूसरी

चीजों में हास्य ही नहीं फुरता। कविताओं का टेकनीक एकदम पुराना है और विचार हजरत के १६वीं शताब्दी के। नारी को गलत चित्रित किया गया है। नारी को बदनाम करने की मिस मेयो जैसी प्रवृत्ति भी इस पुस्तक में दिखाई पड़ती है। ऐसा लगता है कि मिस्टर व्यास की अपनी विकृत भावना ही पत्नी के चित्रों में मुखर हो उठी है। अधिकांश कविताओं को पढ़कर लगा कि यह भारतीय घर का चित्र नहीं, स्वयं लेखक के घर का पहलू है। इन कविताओं में शैली की एकतानता है। सुरुचि, शिष्टता और सामाजिकता की अवहेलना की गई है। अधिकांश कविताएँ अश्लील हैं। अभी पाश्चात्य देशों के मुकाबले हमारा हिन्दी का साहित्य कितना तुच्छ और नगण्य है कि उसकी तुलना नहीं की जा सकती। व्यासजी अगर अँगरेजी नहीं जानते तो उन्हें अपने पड़ौसी बंगाली, मराठी के साहित्य को ही देख जाना चाहिए। तब उन्हें अपना स्थान ठीक दिखाई दे जायगा कि जिनके पासङ्ग में उनकी रचनाएँ कितनी फूहड़, बोदी और बेतुकी हैं।"

इसके बाद तुम मेरी किसी एक बोदी-सी कविता को लो और उसमें जगह-जगह मिलने वाले छन्द-भङ्ग, पुनरावृत्ति, ग्राम्यप्रयोग और अश्लीलता का पर्दाफाश कर डालो। पुस्तक के गैट-अप, कागज और मूल्य पर भी तुम्हारी टिप्पणी रहनी चाहिए। प्रेस की अशुद्धियों को बचा जाना सही आलोचना नहीं है। और देखो, चलते-चलते मेरे प्रकाशक पर भी अपनी स्याही की दो बूँदें ऐसी छिड़कना कि अगली पुस्तक छापने से पहले उसे दस बार सोचना पड़ जाय। मतलब यह कि मेरी कविता को इस प्रकार से तुम्हें दो कौड़ी की सिद्ध करके ही दम लेना है, समझ गये न ?

यह मेरी पहली पुस्तक है। मुझ पर बड़ी-बड़ी किताबें तो बाद में लिखी जायँगी, पर छोटी किताबें यदि अभी निकल जायें तो कोई हर्ज न होगा। मतलब मेरा कहने का यह है कि यदि "व्यास की कला" (गुप्तजी की कला) "व्यास : एक अध्ययन" (साकेत : एक अध्ययन) जैसी किताबें अभी नहीं लिखी जा सकें, तो भाई प्रभाकर माचवे, तुम जल्दी-से-जल्दी दिल्ली चले आओ। मैं आजकल दिल्ली ही हूँ। मुझसे आकर दो-चार 'इन्टरव्यू' ले लो और जल्दी ही "व्यास के विचार"

(जैनेन्द्र के विचार) नाम से एक पुस्तक तैयार करदो। छपवाने का प्रबन्ध सब हो जायगा।

और पाठको, ऐ माँगकर पुस्तक पढ़ने वाले शौकीनो, ओ पुस्तकालय में नवीन पुस्तकों की बाट देखने वाले प्रेमियो—कुछ कद्र करना सीखो ! तुम्हारा शरीर अपना नहीं वह राष्ट्र का है, और हम राष्ट्र का निर्माण करने वाले साहित्यिक हैं। तुम्हारा मन अपना नहीं वह किसी और का है, और उस 'किसी और' की स्थापना तुम्हारे मन में हमने ही तो की है ! तुम्हारा धन अपना नहीं वह गरीबों का है, और हम हिन्दी के गरीब लेखक हैं। तुम्हारा ज्ञान अपना नहीं, वह हमसे उधार लिया गया है। आज हम इस सबकी एवज चाहते हैं। सबकी ओर से मैं चाहता हूँ। तुम्हें यह कर्जा चुकाना ही होगा। मेरी पुस्तक खरीदनी ही होगी।

न केवल तुम किताब ही खरीदोगे, मेरी भूख कुछ और भी बढ़ी हुई है। मैं यश का भूखा हूँ—मुझे कवि-सम्मेलनों का सभापति बनाओगे। मैं धन का भूखा हूँ—तुम मुझे लिफाफों में चैक भेजोगे। मुझे जिन्दा रहने के लिए सोसाइटी चाहिए, कविता लिखने के लिए रङ्गीनी चाहिए, बोलो, दे सकोगे ?

वाहरे कवि के स्वप्न ! और उसकी कविता की फजीहत ! और उसका ऊपर तैर आने वाला अहंकार ! और व्यंग रूप में उसकी अपनी ही आत्म-प्रशंसा !

खुशामद भी एक कला है....!

"खुशामद अनादि है, अनंत है। आत्मा चाहे जर और मर हो, लेकिन लाख क्रांतियाँ हों, हजार निज़ाम बदलें, खुशामद अजर और अमर है, सनातन और निर्विकल्प है। देश और काल उसमें बाधा नहीं डालते। जैसे जीवन के साथ मरण जुड़ा हुआ है, उसी प्रकार मनुष्य के साथ खुशामद जुड़ी हुई है। दूध में से पानी अलग किया जा सकता हो, नदियों की रेत में से चाँदी छानकर निकाली जा सकती हो, लेकिन, मनुष्य से खुशामद नहीं छूट सकती।"

"मज़ाक नहीं, खुशामद करना भी एक कला है!"

११

मज़ाक नहीं, खुशामद करना भी एक कला है। और कमबख्त, ऐसी कला है कि सारी दुनिया इसमें माहिर होना चाहती है, लेकिन बदकिस्मती भी ऐसी है कि नाचने-गाने और भगवान जाने झूठ या सच, किसी-किसी सभ्य देश में तो चोरी सिखाने तक के स्कूल-कालेज खुल गये हैं, पर खुशामद जैसे खुशनुमा और दिन-रात व्यवहार में आने वाले परम उपयोगी 'आर्ट' पर न तो कहीं कोई डिग्री कालेज है और न किसी यूनिवर्सिटी में इस विषय पर 'थीसिस' ही स्वीकार की जाती है। इसका फल यह होता है कि योगियों के लिए भी परम दुर्लभ इस गहन तत्व का विधिवत अध्ययन नहीं होपाता और इस विद्या का जैसा शास्त्रोक्त और सुसंस्कृत प्रचार होना चाहिए वैसा नहीं होरहा।

अभी तो हाल यह है कि आदमी की अक्ल ने अपने-अपने अलग-अलग छुरी-काँटे बना रखे हैं कि सेक-सेककर टोस्ट पर मक्खन लगाया जारहा है, अपने-अपने जाल और काँटे हैं कि परन्दे फँस रहे हैं, मछलियाँ अटक रही हैं; अपना-अपना मांजा और करिश्मा है कि पतंगें बढ़ाई जारही हैं और पेच-पर-पेच उलझा दिये गये हैं और इस तरह अपनी-अपनी किश्तियाँ हैं कि धार में छोड़ दी गई हैं कि किनारे लग जायँ तो राम मालिक और डूब मरें तो मर्जी भगवान की !

भाई मेरे, पिताजी की फालतू कमाई पर गोते खा-खाकर बी० ए० एम० ए० होजाना और बात है और जीवन में बिना कौड़ी-पैसे के सफलता लाभ करना अलग बात है। आपने चाहे छब्बीस वर्ष तक जबरन ब्रह्मचर्य पालन करके जैसे-तैसे विद्यालंकारिता भले ही

हासिल करली हो, लेकिन जब तक खुशामद का 'कोर्स' लेकर आपको 'तिकड़म' की सनद नहीं मिलती, तब तक किसी अखबार की सम्पादकी तो क्या, श्रीमानजी, आपको कहीं चपरासीगीरी भी नहीं मिल सकती !

जी हाँ, चपरासीगीरी ! विश्वास न हो तो अपने शहर में जो म्युनिसिपल कमैटी है, उसके सक्के से लेकर सैक्रेटरी तक से एकान्त में जरा पूछ लीजिए कि हुजूर, जो-कुछ आज आप दिखाई देते हैं, वह सब किसकी बदौलत है ? हर एक ईमानदार आदमी आपसे यही कहेगा कि अजी, हम किस काबिल हैं, यह तो महामहिमामयी, परम भगवती, खुशामद देवी का ही परम प्रसाद है !

यही क्यों, आप किसी भी दफ्तर के मैनेजर क्या हैड क्लर्क तक के हाथ पर गंगाजली रखकर ईमान से पूछ लीजिए कि महाराज, हम किसीसे भी जिक्र नहीं करेंगे, न अखबारों में ही छपने देंगे, पर कृपाकर यह तो बताइए कि जिस कुर्सी पर आज हमें बैठना चाहिए था, वहाँ आप कैसे विराजमान हैं ? वह क्या उत्तर देंगे यह तो मैं नहीं जानता, लेकिन इतना अवश्य बतादूं कि जितने भी ये बड़े-बड़े जज, कलेक्टर, तहसीलदार और थानेदार हैं, इन सबकी नींद में कहीं-न-कहीं खुशामद का पानी अवश्य पड़ा हुआ है !

और क्यों न हो, खुशामद कोई आज की या अनहोनी चीज तो है नहीं। हम सबका सिरजनहार, अखिल विश्व का नियन्ता, खुद परमेश्वर ही जब महा खुशामदपसन्द है तो इस धरती के तुच्छ मनुष्य की क्या चलाई ! वेद-शास्त्र, पुरान-कुरान. गीता-बाइबिल सब एक स्वर से कहते हैं कि उसकी प्रार्थना करो, उससे दुआएं मांगो, उसके सामने नाक रगड़ो, अपने को तुच्छ समझो, उसे सर्व शक्तिमान कहो। यही नहीं, उनका यह भी कहना है कि आप लाख पापी हों लेकिन सारे जीवन में यदि एक बार भी आपकी खुशामद-भरी टेर उस तक पहुंच जाय, तो बस, फिर जनम-जनम के पाप स्वयं ही कट जाते हैं। अजामिल, गीध, व्याध, गणिका और गजराज की अमर कथाएँ, हजार मुख से खुशामद की ही महान शक्ति का जयघोष कर रही हैं।

सतयुग, त्रेता और द्वापर का तो पता नहीं, पर इस कलि-काल में और खास तौर से इस बीसवीं शताब्दी में तो आप जानते हैं कि आज तक किसीने ईश्वर को देखा नहीं। फिर भी हम उसे सर्वत्र व्याप्त कहते हैं। सब जानते हैं कि रोटी ८ घंटे की कड़ी मेहनत और गृहलक्ष्मी की कृपा से प्राप्त होती है, कपड़ा मिलों में बनता है और जेल के सर्टीफिकेट द्वारा परमिटों से प्राप्त होता है, मकान पगड़ी देने पर खुला करते हैं और नौकरी खुशामद से और रोजगार बेईमानी से फलते-फूलते हैं, फिर भी हम सब यही कहते हैं कि यह सब कुछ उसीका दिया हुआ है। सब कुछ उसीकी कृपा है।

मरने के बाद सिवाय नचिकेता के आजतक कोई उस दुनिया से नहीं लौटा। आजकल के वैज्ञानिक चाहे मनुष्य को १० लाख वर्ष पुराना ही मानें, हमारे नचिकेता को हुए करोड़ों वर्ष बीत गये होंगे। इस बीच उस दुनिया में क्या उलट-फेर हुए यह पता नहीं लग पाया। पता नहीं, यमराज की हिटलरशाही अब भी वैसी चल रही है या मित्रराष्ट्रों ने उसका खात्मा कर दिया है। क्या पता नरकवासियों ने भी सन् ४२ में विद्रोह कर दिया हो, और वहाँ भी अब प्रजातन्त्र की स्थापना होचुकी हो? यह भी तो सम्भव है कि स्वर्ग में इन्द्र के अपार वैभव और असमानता को देखकर देवताओं में भी साम्यवाद के बीज फूट पड़े हों? या ईश्वर की अखंड सत्ता भी अब भारतीय नरेशों की भांति वैधानिक ही रह गई हो तो? लेकिन हम यह सब कुछ नहीं सोचते और खुशामद के शुद्ध सनातन धर्म को आंख मूंदकर भक्तिपूर्वक निवाहे जाते हैं!

कहने का मतलब यह कि खुशामद अनादि है, अनंत है। आत्मा चाहे जर और मर हो, लेकिन लाख क्रांतियाँ हों, हजार निजाम बदलें, खुशामद अजर और अमर है। सनातन और निर्विकल्प है। देश और काल उसमें बाधा नहीं डालते। जैसे जीवन के साथ मरण जुड़ा हुआ है, उसी प्रकार मनुष्य के साथ खुशामद जुड़ी हुई है। दूध में से पानी को अलग किया जा सकता हो, नदियों की रेत से चांदी छानकर निकाली जा सकती हो, लेकिन मनुष्य से खुशामद नहीं छूट सकता। वह ईश्वर की नहीं करेगा, प्रकृति की करेगा। बादशाहों को छोड़ देगा, मिनिस्टरों

की करेगा, उनसे काम नहीं निकलेगा आफीसरों की करेगा। जरूरत होगी तो पूँजीवाद की दुहाई देगा और जरूरत न होगी तो स्टालिन को सलाम पहुँचवा देगा।

तो फिर जब खुशामद है, रही है और रहेगी, तो फिर क्यों न उसे खुलकर गले लगाया जाय ? फिर क्यों हिचका जाय और तकलीफें सही जायं ? ऐ दुनिया के संत्रस्त प्राणियो ! मैं तो कहता हूँ कि विद्या चूक जाय, बल रखा रहे, धन बेकार होजाय, रूप का भी जादू न चले और चाहे बुद्धि भी साथ न दे, लेकिन याद रखो, मौके पर आज तक खुशामद ने कभी दगा नहीं दी। जहाँ सब फेल होते हैं वहाँ ब्रह्मास्त्र (अब तो 'एटम' कहूँ तो ठीक होगा) की तरह अकेली खुशामद ही सफल होती है।

अगर आप खुशामद करना जानते हैं तो कोई परवाह नहीं कि आपके पास डिग्रियाँ हैं या नहीं, आप योग्य हैं या अयोग्य—नौकरी आप को ही मिलेगी। आप शकल से लाख शेखचिल्ली हों और आप की जेबों में चाहे सूराख ही होरहे हों, लेकिन खुशामद के शस्त्र से प्रेम के पंथ में आप बड़े-से-बड़े स्वरूपवान और लखपती को पछाड़ सकते हैं !

दूर क्यों जाते हैं, खुद मेरी खुशामदी सफलताओं का ब्यौरा सुनिए न ? कभी हम साहब कुल १०) महीने के कम्पोजीटर थे। १५ साल बाद इस तेजी के जमाने में बहुत होता तो ५०) होगये होते। लेकिन हाथ में 'स्टिक' पकड़ते-पकड़ते ठेकें पड़ गई होतीं, स्टूल पर बैठते-बैठते कमर कमान होगई होती, 'करेक्शन' करते-करते कटाक्ष कोटरलीन होगये होते और बहुत मुमकिन था कि शीशे की गर्मी श्वास-प्रश्वास द्वारा फैंफड़ों तक पहुँच गई होती और अब तक हमें हमारे बिरादरीवालों ने 'सत्यधाम' भी पहुँचा दिया होता ! लेकिन वह तो यह कहिए कि तकदीर हमारी कुछ अच्छी थी जो शीघ्र हो हमने खुशामद के महत्व और महात्म्य को हृदयंगम कर लिया, उस्तादों की चिलम भर-भरकर हजारों नई-पुरानी कविताएं याद कर डालीं और पचासों जगह उन्हें अपनी बताकर सुना डाला, तिकड़म से नकल कर-करके विशारद और साहित्यरत्न पास कर लिये, कवियों की खुशा-

मद करके कुछ तुकें जोड़ना सीख लिया, महान कवियों और लेखकों की नई-पुरानी कृतियों पर प्रशंसात्मक लेख लिखे, खुशामद कर-करके उन्हें पत्रों में छपवाया और इस तरह क्रम-क्रम से साधना करने पर आज यह दिन भी आया कि लोग भूल गये कि हम पहले क्या थे ? अब तो हम हैं महामहिम स्वनाम धन्य श्री.......कवि, लेखक और पत्रकार !

तो भाई मेरे, इसीलिए कहता हूं कि खुशामद से भागो मत ! इस दुनिया में सब कुछ असत्य है। सत्य केवल दो वस्तुएं हैं, वह यह कि अगर नालायक हो तो खुशामद करो। और लायक हो तो खुशामद कराओ। संसार और सफलता का रहस्य बस इसीमें छिपा है !

इतनी भूमिका और खुशामद के इस महामहिमामय माहात्म्य के बाद आप शायद इस कला के कुछ तौर-तरीके अवश्य जानना पसन्द करेंगे। यों तो यह विषय योगियों के लिए भी दुर्लभ और तपस्वियों के लिए भी परम गहन है, पर क्योंकि अपनी पत्नी के पुण्य प्रताप से मैंने इसमें यत्किंचित सिद्धि लाभ की है, इसलिए, अपने चौथाई शताब्दी के कुछ अनुभूत प्रयोग आपकी सुविधा के लिए यहां देरहा हूँ। आशा है मेरे इस परमार्थ से पाठकों का स्वार्थ अवश्य ही साधन हो सकेगा।

खुशामद की कला में सबसे बड़ी और महत्वपूर्ण बात यह है कि आप खुशामद तो करें, लेकिन खुशामदी न समझे जायें। यानी, जिसकी खुशामद आप करना चाहते हैं उसे यह न मालूम हो कि मेरी खुशामद की जारही है।

आप में से शायद कुछ मेरी इस बात से सहमत न हों और कहें कि जब परमात्मा सीधी प्रशंसा यानी खुशामद से खुश होता है तो जीवात्मा क्यों नहीं होगा ? दुनिया में ऐसा कौन है जिसे अपनी खुशामद खुद अच्छी नहीं लगती हो। लेकिन मैं कहता हूँ कि ये "टेकनीक" अब पुराना होगया, घिस गया और आज के खुशामद-पसन्द इससे भली-भांति परिचित होगये हैं। अब हर समय, जी हुजूर, हाँ हजूर, बहुत ठीक, वाह-वाह, क्या कहने हैं आदि पर रीझने वाले निरक्षर राजा-रईस, नवाब, शौकीन सब या तो परमधाम पहुँच गये या वहाँ की बाट जोह रहे हैं ! आजकल के हम खुशामदियों

का पाला पड़ता है उन पढ़े-लिखे मनोविज्ञान के पंडितों से, जो स्वयं खुशामद कर-करके ही आज खुशामद कराने की स्थिति पर पहुँच सके हैं।

इसलिए हे नई दुनिया के नये खुशामदियो ! आज के युग में भूलकर भी सीधे अपने आराध्यदेव की प्रशंसा न करो। इस सम्बन्ध में मेरा पहला गुर याद रखो कि उनकी प्रशंसा नहीं, उनसे सम्बन्धित चीजों की प्रशंसा करनी चाहिए। हमें उनकी रुचियों का अध्ययन करना चाहिए। हमें ध्यान से पहले यह देखना चाहिए कि उनके कमरे में चित्र कैसे लगे हैं, मूर्तियां किसकी हैं, वह सिगरेट कौन-सी पीते हैं, उन्हें सिनेमा कैसे पसन्द आते हैं, वह साहित्य कैसा पढ़ते हैं, कपड़े कैसे पहनते हैं ? और फिर स्वयं उनकी प्रशंसा न करके आप उनकी चीजों की प्रशंसा कीजिए, उनकी रुचियों की सराहना कीजिए और फिर भले ही कवियों की अतिशयोक्ति का भी उल्लंघन करते हुए कहिए कि वाह ! क्या पांवपोश आपने चुनकर रखा है कि इस पर पैर पोंछने के बजाय मुँह रगड़ने को मन ललचा आया है ! और कहिए कि जो सिगार आप पीते हैं, शायद उसकी महक आपको उतनी मोहित नहीं करती होगी, जितनी आपके पास बैठने वाले को करती है ?

याद रखिए कि अफसर से कभी भूलकर भी यह न कहो कि हुजूर ज़रा तो खुशामद मान जाइए। इससे काम बनता भी होगा तो बिगड़ जायगा। इस सम्बन्ध में मेरा दूसरा सूत्र याद रखिए और उससे कहिए कि सरकार, आपसे पहले अफसर तो खुशामद से पिघल भी जाया करते थे, लेकिन आपके यहाँ तो खुशामद से भी काम नहीं चलता। और फिर देखिए कि यह मक्खन कितना चिकना साबित होता है ?

खुशामद का पहला गुरुमंत्र यह है कि जिसकी खुशामद करनी हो उसके निकट उसकी महत्ता और अपनी अज्ञता अवश्य प्रदर्शित की जानी चाहिए। उदाहरण के लिए आप उनकी मेज पर रखे हुए फाउन्टेनपेन को उठा लीजिए और कहिए अरे, यह नया माडल बाजार में कब आया ? वाह, क्या खूब ! अजी, इसमें स्याही कैसे भरी जाती

है ? और शीघ्र ही आप देखेंगे कि मछली जाल में फंसती हुई चली आती है !

एक बार की बात है कि एक सज्जन से मुझे कुछ काम निकालना था। लेकिन उनके बारे में सुन रखा था कि हजरत बड़े आदर्शवादी हैं, गजब के कट्टर हैं, खुशामदियों को ज़रा भी मुँह नहीं लगने देते। काम बहुत-ज़रूरी था। मैंने उनके पास आना-जाना शुरू कर दिया। रोज़ नये-नये नुस्खों का व्यवहार करता, मगर वे सब खाली जाते। मैं हैरान था कि क्या किया जाय ? अंत में मालूम हुआ कि श्रीमानजी को मुफ्त में होमियोपैथी करने का शौक है। मैंने मन में सोचा कि बस, अब मैदान मार लिया ! मैं रोज़-रोज़ उनके पास नये-नये मरीज़ ले जाता और हर दूसरे-तीसरे दिन उनके चंगे होने के समाचार उन्हें पहुँचाता। कहता कि डाक्टर साहब, क्या यश आपके हाथ में है कि तीन खुराक के लेते ही बीमार चारपाई से उठकर भागने लगा, आज तो वह अपने काम पर भी चला गया। डाक्टर साहब, उसके बच्चे आपको बड़ी आशीष दे रहे हैं। कभी कहता यह 'केस' तो डा० साहब आपने ऐसा ठीक किया है कि इसमें सारे शहर के डाक्टर ना कर गये थे। कभी कहता डाक्टर, आप तो सब-कुछ छोड़कर एक धर्मार्थ अस्पताल खोल लीजिए। हज़ारों आत्माएं आपको दुआएं देंगीं। गरज यह कि पंद्रह दिन के इस अचूक प्रयोग में डाक्टर साहब वह सीधे हुए कि जितना मैं चाहता था उससे अधिक काम ही उन्होंने नहीं कर दिया, बल्कि समय-समय पर सदैव मुझे उपकृत करने को उत्सुक भी रहने लगे।

कहते हैं कि सेवा करने से ही मेवा मिला करती है और लोग खुशामद के मार्ग में सेवा को सबसे बड़ा साधन बताया करते हैं, वह है भी, मगर उस तरह से नहीं, जिस तरह से लोग कहते हैं या करते हैं। यह ठीक है कि भरी सभा में चरण छूने से, रात को सोते समय हठपूर्वक उनके चरण दाबने से, बैरे की जगह खुद ही चाय बना लाने से आज के देवता अभिलषित पदार्थों को दे दिया करते हैं, मगर यह तरीके पुराने हैं और इनमें (वैसे तो हम खुशामदियों के स्वाभिमान और आत्मा नहीं होती मगर फिर भी) आत्मा बेचनी पड़ती है। इसलिए आपको चाहिए कि आप मेरे मार्ग को अपनाएँ। मतलब

कि आप बाबूजी की सेवा छोड़कर बीबीजी की सेवा पहले करें और बीबीजी का काम करते-करते अगर कहीं उनके बच्चे रोते-ठुनकते नजर आयें तो पहले उन पर ध्यान दें। यह वह अमोघ अस्त्र है जो कभी खाली नहीं जाता। बाबूजी की लाख काम न करके देने की इच्छा हो, मगर बीबीजी के कहे को टाल सकना, उनकी तो क्या उनके अग्रजों के भी वश से बाहर की बात है—और बीवियों को प्रसन्न करने का गुरु उनके बच्चे खिलाने से बढ़कर आज तक दूसरा कोई ईजाद ही नहीं हुआ।

इसलिए सुलझे हुए खुशामदी प्राय: पीछे के दरवाजे से ही प्रवेश प्राप्त किया करते हैं और इसमें कोई बुराई की भी बात नहीं है। बाबा तुलसीदास ने भी अपनी 'विनयपत्रिका' सीताजी के मार्फ़त ही रामजी को पहुंचाई थी।

और बच्चे! वे तो कार्य-सिद्धि की कुंजी हैं। सुनिए, जो काम थैलियों से नहीं होता, सिफारिशों से नहीं होता, वह चुटकियों में बच्चों से होजाया करता है।

उदाहरण के लिए एक सज्जन आल इंण्डिया रेडियो में नौकरी के इच्छुक थे। दो साल तक पार्लमेंट स्ट्रीट के चक्कर काटते-काटते दो दर्जन जूते घिसकर बदल चुके थे। एक दिन बातों-ही-बातों में उन्होंने मुझे अपना दर्द कह सुनाया। मैंने कहा, अरे बावले! क्यों अपनी कमाई बाटा कम्पनी को बाँट रहा है? जा, फीरोज़शाह रोड के अन्त में जो नं०........की कोठी है, उसमें घुस जा और देख जाकर कि श्री........जी के बच्चे अपने पिताजी को क्या संबोधन करते हैं?

कहने की आवश्यकता नहीं कि सज्जन वहाँ गये और बच्चों की देखा-देखी बाबूजी को 'दद्दा' कहने लगे और परिणाम यह हुआ कि आज २ साल बाद दद्दा-दद्दा कहते स्वयं सबके दद्दा बन बैठे हैं!

हो सकता है कि आप भी इस नुस्खे को आजमाने की दिल में ठान लें। अवश्य आजमाइए, लेकिन उस तरह से नहीं, जिस तरह से एक बार शिमले के उस कुली ने आजमाया था।

बात यह हुई कि शिमले में एक जोड़े ने रिकशा किराये पर ली

और उस पर बैठकर चल दिये। रास्ते-भर एक-दूसरे को डार्लिंग-डार्लिंग कहकर न जाने वह क्या-क्या बातें करते रहे? स्थान पर पहुंचकर जब बाबू ने कुली को पैसे दिये तो कुली ने अनुभव किया कि मजदूरी तो कम दी जारही है। उसने तपाक से श्रीमतीजी से कहा, "डार्लिंग इतने से काम नहीं चलेगा, ये तो बहुत कम हैं!"

इसके बाद की घटना की कल्पना आप स्वयं कर सकते हैं। इसीलिए मेरा कहना है कि बच्चों का अनुकरण अवश्य कीजिए, मगर बच्चों की तरह से नहीं समझदारों की तरह से। क्योंकि खुशामद नासमझों के वश का रोग नहीं है।

हे हे मलेरिया महाराज....!

•

"हम संसारियों पर आपकी कृपा हित की दृष्टि से ही होती है। यदि प्रति वर्ष हजारों-लाखों जीवों पर आप यों कृपा न करते रहें तो हिन्दुस्तान की आबादी भला कहीं समा सकती है? हम लोगों को अकाल मृत्यु से बचाने के लिए, हमें सेहत, गरीबी और दूसरी झंझटों से दूर रखने के लिए और संतति-निग्रह एवं ब्रह्मचर्य जैसी फालतू चीजों के प्रचार-निषेध के लिए ही आपने धराधाम को सुशोभित किया है। हे दीनबन्धु, आपकी जय हो, जय हो, जय हो!"
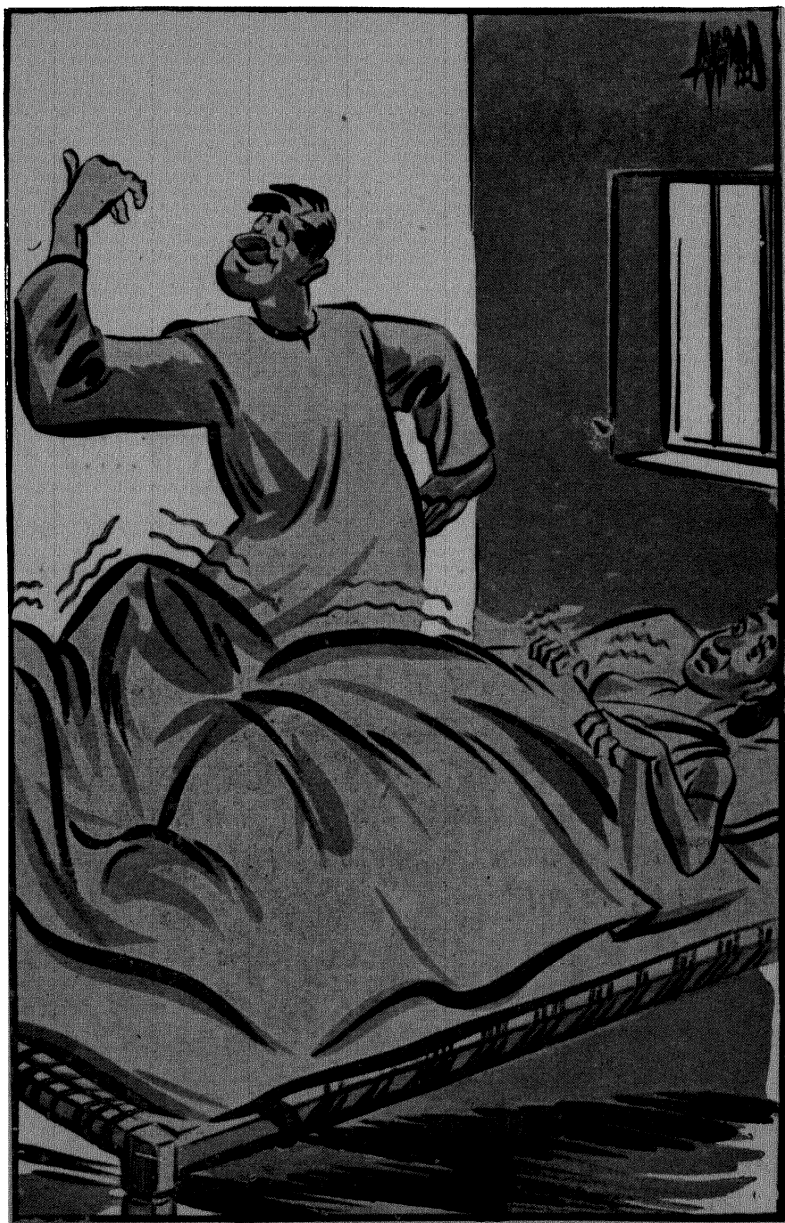
"उन्होंने लिहाफ़ के ऊपर रजाई, रजाई के ऊपर कम्बल, कम्बल के ऊपर गद्दा, गद्दे के ऊपर दरी और दरी के ऊपर चादर ओढ़कर जिस शैया-नृत्य का प्रदर्शन किया कि............!"

१२

हे महामहिम,

आप वैद्यों के लिए अगम और डाक्टरों के लिए दुर्गम हैं। होमियोपैथ आपके आगे आने से हिचकते हैं और हकीम बेचारे की तो बस, हिचकी ही बँध जाती है। इस तीन लोक में आपके उतारे का कोई और उपाय संभव न समझकर, हम सब आपकी शरण आये हैं, पाहिमाम प्रभो !

हे ज्वराधीश,

अपने महाशत्रु कुनैन को चारों कोने चित्त पछाड़कर, इस बार आपने जो परम पौरुष प्रदर्शित किया है, उससे बेचारी कुटकी के प्राण चुटकी में निकल गये हैं ! तब चिरायता, ज्वरनाशक और जूड़ी-ताप भला आपका क्या बिगाड़ सकेंगे ? जब पैल्यूड्रीन और मैपाक्रीन की कुछ नहीं चलती तो बेचारे तुलसी के पत्ते, अजी चढ़ाइए उन्हें शालिग्रामजी पर !

हे महाकाल,

कौन ऐसा है जो आपके प्रबल प्रताप से परिचित न हो ? भरे जंगल में शेर से बचा जा सकता है, बरसती रात में टूटी छत के नीचे टपके से बचा जा सकता है, ब्लैक मार्केट करते हुए सजा से बचा जा सकता है, दफ्तर में बड़े बाबू की घुड़की से भी निजात मिल सकती है और घर में श्रीमतीजी की लन्तरानियों से भी बचने के तरीके ईजाद होगये हैं, लेकिन हे अरि-मद-मर्दन ! जिस पर जीवन में आपकी एक बार कृपा होगई, उसकी दवा तो शायद फिर धन्वन्तरि के पास भी नहीं है।

हे प्रलयंकर,

भारतवर्ष में वास करने वाले तेतीस करोड़ देवताओं की (इधर देवताओं की जनसंख्या भी बढ़ गई है) आपके आतंक से घिघ्घी बँध चुकी है। बारहखम्बे में वास करने वाले बड़े-बड़े विलासी इन्द्र, वाटर वर्क्स के सुपरिन्टेन्डेंट वरुण, बिजली कम्पनी के मैनेजर सूर्य और अखबारों के एडीटर-रिपोर्टरों के दांत आपकी छाया-मात्र से किटकिटा कर बज उठे हैं, बड़े-बड़े गुण्डे और थानेदार आपके डर के मारे कम्बल, रजाई, सौड़ और गद्दों में जा छिपे हैं। यही नहीं, इन सबसे भी परम महिमामयी और अदमनीय हमारी 'उन' पर जो उस दिन आपकी कृपा हुई, तो मैं हैरान होगया ! उन्होंने लिहाफ के ऊपर रजाई, रजाई के ऊपर कम्बल, कम्बल के ऊपर गद्दा, गद्दे के ऊपर दरी और दरी के ऊपर चादर ओढ़कर जिस शैया-नृत्य का कौशल प्रदर्शन किया था, उसे यदि रविबाबू देख पाते तो निश्चय ही वह अपनी शांति-निकेतन की कला-कल्पना पर दीन हो उठते ! उदयशंकर के कलाकेन्द्र में भी इस प्रकार के नृत्य की कोई संभावना तक अभी पैदा नहीं हुई होगी। अहह ! कैसा अपूर्व दृश्य था ! खाट हिल रही है, कि देवीजी हिल रही हैं कि पास खड़ा मैं हिल रहा हूँ, कि हम सबको हिलाने वाली जमीन हिल रही है—कुछ समझ में ही न आता था ? ऐसा लगता था कि अपने पूरे वेग पर महापिनाकी का तांडव शुरू होगया है और परम भगवती अपने लास्य के लिए अपनी शैया पर से उठने ही वाली हैं।

हे प्रभो,

अगर हमारी सरकार पाकिस्तानियों से फुर्सत पागई होती या कम्बख्त डाक्टरों ने कुनैन में आरारोट न घोला होता और वैद्यजी की पुरानी पुस्तकों को दीमक न चाट गई होती तो हम आपको इतना कष्ट न देते। लेकिन अब तो हाल यह है कि अनाड़ी डाक्टरों ने दे-देकर इन्जैक्शन मेरी बाँह को छलनी कर दिया है, मेरी पत्नी के गले में पीपल का पत्ता लाल कपड़े में बँधा लटकता रहता है, मेरे बच्चे एक आँख में काजल लगाये फिरते हैं और उनकी दादी ने ताक पर मनौती के इतने

पैसे इकट्ठे कर रखे हैं कि अगर उन्हें ले सकने की हिम्मत मुझे भगवान् दे दें तो सच समझिए कि कम-से-कम एक महीने की शाक-भाजी का काम तो चल ही सकता है !

अंतर्यामिन,

काबुल और काश्मीर का रास्ता खतरे में है, इसलिए मुनक्काओं का लोप होगया है, सेव और अनार के दर्शन दुश्वार होरहे हैं, मौसमी बेमौसमी होगई हैं और मिट्ठे खट्टे निकलने लगे हैं। तब, पानी भरी गडेलियाँ और पानी-पानी दूध ही तो इस १२५ पौण्ड, ५ फुट ६ इञ्च वाले शरीर का आधार है।

परम दुर्द्धर्ष,

बेचारे परशुरामजी तो केवल २१ बार ही अकेले क्षत्रियों का नाश करके थक गये, लेकिन आप शत-सहस्रों वर्षों से बिना थके सृष्टि के दीन-हीन भटके प्राणियों के लिए मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करते चले आरहे हैं। मेरी दादी जिसे जीवन में ५६ बार खाट से नीचे नहीं उतार सके, वह आपकी तीन पालियों में ही चारों कौने चित्त होगई ! मेरे बूआजी जो मुहल्ले-भर के झगड़ों में विजय-श्री प्राप्त कर लेती थीं, आपसे उलझ कर चल बसीं ! यही क्यों, पड़ौसी धनुआं, मोदी सालिगराम, घीसा तमोली, गड्डूर हलवाई, मंगू पहलवान, जिन सबको मैं अपने मैले-कुचैले कपड़ों में खाँसते-खंकारते देखने का अभ्यासी होगया था, वे सब आपकी सेवा के लिए यहाँ से विदा होचुके हैं। छबीलो कुँजड़िन और साँवलो मालिन जो ग्राहकों के चुक जाने पर भी अपने अनन्त झगड़ों को बड़ी ही सुखद नागरिक भाषा में चुकाया करती थीं, देखता हूँ कि पिछले सप्ताह से उनकी सुमधुर ध्वनि भी खिड़की को राह, मंद-मंथर गति से मेरे कमरे में प्रवेश नहीं कर रही। और, हाँ, आपके प्रताप से अपरिचित वह गंगोली डाक्टर का मंगोली कम्पाउन्डर, जो डटकर मिक्चर में पानी मिलाया करता था, कल से डिसपेन्सरी से गायब है !

हे हे मलेरिया महाराज,

इसमें तिल-मात्र भी सन्देह नहीं कि हम संसारियों पर आपकी कृपा हित की दृष्टि से ही होती है। यदि प्रतिवर्ष हजारों-लाखों जीवों पर आप यों कृपा न करते रहें, तो हिन्दुस्तान की आबादी भला कहीं समा सकती है ? लोग आपस में ही कट-कट कर मरने लगें, नित्य नये महाभारतों की सृष्टि हो, प्रतिवर्ष एक विश्वयुद्ध की संभावना बनी रहे और न जाने क्या-क्या होने लगे ? अस्तु, हम संसारियों को अकाल मृत्यु से बचाने के लिए, सेहत, गरीबी और दूसरी झंझटों से अलग रखने के लिए और संतति-निग्रह एवं ब्रह्मचर्य जैसी फालतू चीजों के प्रचार-निषेध के लिए आपने धराधाम को सुशोभित किया है, हे दीनबंधु, आपकी जय हो, जय हो, जय हो !

हे अशरण शरण,

अब कुनैन नहीं खाई जाती। कान झनझना उठे हैं, दिमाग पिनपिना उठा है और तबियत, उसकी न पूछो प्रभो ! अपने ही घर में शरणार्थियों की-सी हालत होरही है ! हिन्दुस्तान पहले से ही प्राथमिक चिकित्सा में दक्ष होजाय, यह सोचकर आपने घर-घर को अस्पताल में पलट दिया है। अनाज का राशन है। कन्ट्रोल टूटने पर वह भी गायब होने वाला सुनते हैं ! इस सबका आपने पेशगी उपाय कर दिया है कि पहले तो आपका कृपा-पात्र कुछ खाने-पीने के लायक ही न रहे, फिर अगर खाने-पीने पर उतर ही आये तो ज्यादा खाया ही न जाय और जो भी खाये, वह पचा न सके।

बहुत हुआ प्रभो,

दीपावली बीत गई। उस अखंड दीपराशि में निश्चय ही आपके वाहनों (मच्छरों) का अभाव होगया है। इसलिए आपको कहीं आने-जाने में बड़ी असुविधा होती होगी। फिर जिस कार्य के लिए आपने धरती-तल पर अवतार धारण करके भारतवर्ष में प्रवेश किया था, उसे हमने हिन्दू-मुसलमानों के झगड़ों में स्वतः ही पूर्ण कर लिया है, अब आप अपर लोकों को प्रस्थान करें तो बड़ा शुभ हो। देखिए, सुदूर पश्चिम में

चर्चिल आपको चुनौती दे रहे हैं, उधर अफ्रीका में मलान आपका आह्वान कर रहा है। लेकिन भारतवर्ष की महामहिमा से प्रभावित होकर यदि आप इसे न छोड़ना चाहते हों तो हे कूटनीतिज्ञ, क्यों नहीं आप अपना हैडक्वाटर कराची में खोल लेते? मिस्टर लियाकत वहाँ आपके स्वागत के लिए बड़ी लियाकत से अर्घ्य-पाद्य लिये खड़े हैं!

ओ३म् शान्ति, शान्ति, शान्ति!

अजब मुसीबत है....!

"अजब मुसीबत है, अभिज्ञान शाकुन्तल या मेघदूत पढ़ने बैठता हूँ तो किताब छीन लेती हैं कि अब तुम्हारी उम्र इन्हें पढ़ने की नहीं रही। वैराग्यशतक या भगवद्गीता लेकर बैठता हूँ तो सिर पकड़कर धम्म से बैठ जाती हैं कि हाय राम! उकताकर कभी सिनेमा-थियेटर में जा बैठता हूँ तो लौटने पर घर में एक नया सिनेमा तैयार मिलता है और जब सबसे ऊबकर तुलसीकृत रामायण गाने लगता हूँ तो कहने लगती हैं कि अब रात में तो सो लेने दिया करो!"

'सुबह से लेकर शाम तक बीस आते हैं, पचास जाते हैं। अब यह भी कोई बात हुई कि वे कौन थे, ये कौन हैं ?"

१३

कोई एक-दो बार की बात नहीं, हजारों बार अपनी 'उन'से कह-कहकर हार गया हूँ कि देखो, बात-बात में दखल देना अच्छा नहीं होता। पर वे हैं कि जैसे अमरीका की धमकियों की रूस चिन्ता नहीं करता, या जैसे हमारे देश में आजकल नेताओं के भाषणों का कोई असर नहीं होता—वैसे ही वे मुझ गरीब की बात पर कोई ध्यान ही नहीं देतीं।

अरे भाई, शाक-भाजी में, रसोई-पानी में, कपड़े-लत्ते में, जेवर-जांठे में, चलन-व्यवहार में और घर-गृहस्थी की दूसरी छोटी-बड़ी चीजों में अगर आप दखल देती हैं तो ठीक है। बच्चों की पढ़ाई में, घर के प्रबन्ध में, मेहमानों की खातिर में आप दिलचस्पी लें तो उसे भी कोई बुरा नहीं बताता। लेकिन मुझे कुर्त्ता छोड़कर बुशशर्ट पहननी चाहिए और धोती को खूंटी पर टांग पतलून लटका लेनी चाहिए—यह सलाह भला आप क्यों देती हैं? मेरा लम्बी-लम्बी मूछें रखना, ज़रा संजीदगी से चलना, ज़रा कम बातें करना या बाहर छड़ी लेकर निकलना—समझ में नहीं आता उनको क्यों नहीं सुहाता?

ठीक है, आप मलमल छोड़कर वायल खरीदिए, वायल फेंककर सिल्क लीजिए, जार्जेट छांटिए, सलवार पहनिए, गरारा पहनिए—और मुझे तो सच बताऊँ उनके पैंट पहनने में भी कोई खास एतराज नहीं है। पर भगवान के नाम पर मेरे खादी के धोती-कुर्त्ते को तो रोजाना मत कोसिए।

बाबा, खादी के दोष-गुण मैं तुमसे अधिक जानता हूँ। तकली पर सूत निकालते-निकालते अंगुलियों में बल पड़ गए हैं। खादी के

आदी को यह कहना कि वह जल्दी फटती है, फटकर सिल नहीं सकती, दो घंटे बाद मैली होजाती है, मोटी होती है, छोटी होती है, यह होती है, वह होती है—कोई बात हुई ?

खैर, मेरे रहन-सहन और कपड़ों में आप दिलचस्पी लेती हैं और उनमें अपनी रुचि का परिवर्तन करना चाहती हैं तो करो भाई, वेद-शास्त्रों के अनुसार इस शरीर के अर्द्धांग पर तो आपका अधिकार है ही। लेकिन यह क्या बात हुई कि सुबह उठते ही खानातलाशी शुरू होजाती है कि यह चिट्ठी किसकी है, यह पुर्जा कहाँ से आया है, ये नोट कैसे हैं और रात-रात में यह रूमाल किसका उठा लाए हो ?

अरे भई, एक तुम न मानो तो क्या, दुनिया तो मुझे भला आदमी मानती ही है। कवि हूँ, लेखक हूँ, पत्रकार हूँ—सुबह से लेकर शाम तक २० आते हैं और ५० जाते हैं। अब यह भी कोई बात हुई कि वे कौन थे, ये कौन हैं ? आज ये फिर क्यों आये, तुम बार-बार इनके यहाँ क्यों जाया करते हो, मुझे इनका यहाँ आना पसन्द नहीं, यह अच्छे आदमी हैं, वह बुरे आदमी हैं, यह चतुर हैं, वह भोंदू हैं इन्हें देखकर मेरा मन बनाने को करता है, इनके सामने मैं चाय लेकर नहीं आऊंगी—मैं कहता हूं कि जब पूछा जाय और आवश्यकता हो तब तक के लिए आप इन शुभ सम्मतियों को अपने पास नहीं रख सकतीं ?

राशन कम होगया, आटे में सकरकन्द मिला है, चावल ऐसे आते हैं, सूजी नहीं मिलती, मैदा कहाँ गई—ठीक है, पूछिए इन बातों को; कौन टोकता है ? लेकिन कृपा करके यह तो बताइए कि गेहूँ के भावों के साथ सोने के भावों का क्या सम्बन्ध है ? साड़ियों के डिजाइनों का क्या रिश्ता है ? चप्पलों के सैटों की क्या तुक है ?

मैं तो तंग आगया हूं—हजार तरह से कह देखा, मगर उनका हर बात में दखल देना बन्द ही नहीं होता। अजब मुसीबत है, अभिज्ञान शाकुन्तल या मेघदूत पढ़ने बैठता हूँ तो किताब हाथ से छीन लेती हैं कि अब तुम्हारी उम्र इन्हें पढ़ने की नहीं रही। वैराग्य-शतक और भगवद्गीता लेकर बैठता हूं तो सिर पकड़कर धम्म से बैठ जाती हैं कि हाय राम ! उकताकर किसी सिनेमा-थियेटर में जा बैठता हूं, तो लौटने पर घर में एक नया सिनेमा तैयार मिलता है।

और जब सबसे ऊबकर अन्त में तुलसीकृत रामायण गाने लगता हूँ तो कहने लगती हैं कि अब रात में तो सो लेने दिया करो !

लैम्प बुझाकर सोने लगता हूं तो कहती हैं यह क्या किया, उसे जला दो। जलती हुई छोड़ देता हूँ तो डपटती हैं जरा कम कर दो। जल्दी सोने लगता हूं तो कहती हैं, अभी ६ बजे से ही खुर्राटे लेने लगे ! देर तक नींद नहीं आती तो हर मिनट पर टहोकती है कि क्या हुआ, आज नींद क्यों नहीं आती ?

एक दिन मैं उन्हें डाक्टर के पास लेगया। डाक्टर देखकर मुस्करा दिए !

मैंने हैरान होकर पूछा, "क्यों ?"

बोले, "इलाज की जरूरत इन्हें नहीं, आपको है।

मैंने आश्चर्य से अपने शरीर पर निगाह डाली, कहीं कोई रोग-दोख दिखाई नहीं दिया !

डाक्टर बोले, "आप क्या काम करते हैं ?"

मैंने कहा, "काम ? अजी आप मुझे जानते नहीं ? मैं तो स्वनाम धन्य....! अजी, कवि हूं, लेखक हूँ, पत्रकार हूँ !"

बोले, "बस यही बीमारी है, इसीका इलाज करवाइए !"

मैंने हैरान होकर पूछा, "डाक्टर, क्या कहते हैं आप ! कविता, लेखन, पत्रिकारिता—बीमारी ! मैं समझा नहीं ?"

तो बोले, "यही इसका इलाज है, जिस दिन आपने इन्हें बीमारी समझ लिया कि समझलो बीमारी चली गई !"

साहित्य का भी कोई उद्देश्य....?

"जहाँ तक मेरा संबंध है, मैं माल 'आर्डर' पर 'सप्लाई' करता हूँ। मैंने लेख-कहानियां पत्रों की माँग पर लिखे हैं, नाटक परीक्षाओं में लगने को तैयार किये हैं, समालोचनात्मक ग्रन्थ बिकने को प्रस्तुत किये हैं और उपन्यास अब 'आर्डर' पर लिख रहा हूँ। लिखने से पहले प्रकाशक खोजना और लिखने के बाद रायल्टी का सही-सही हिसाब लेना—मेरे साहित्य के तो यही दो पवित्र उद्देश्य हैं। लिखते समय भी पात्र, कथानक और चरित्र-चित्रण के बजाय मेरा ध्यान प्रकाशक या संपादक की चाह और उसकी निर्धारित की हुई पृष्ठ-संख्या पर ही अधिक रहता है।"
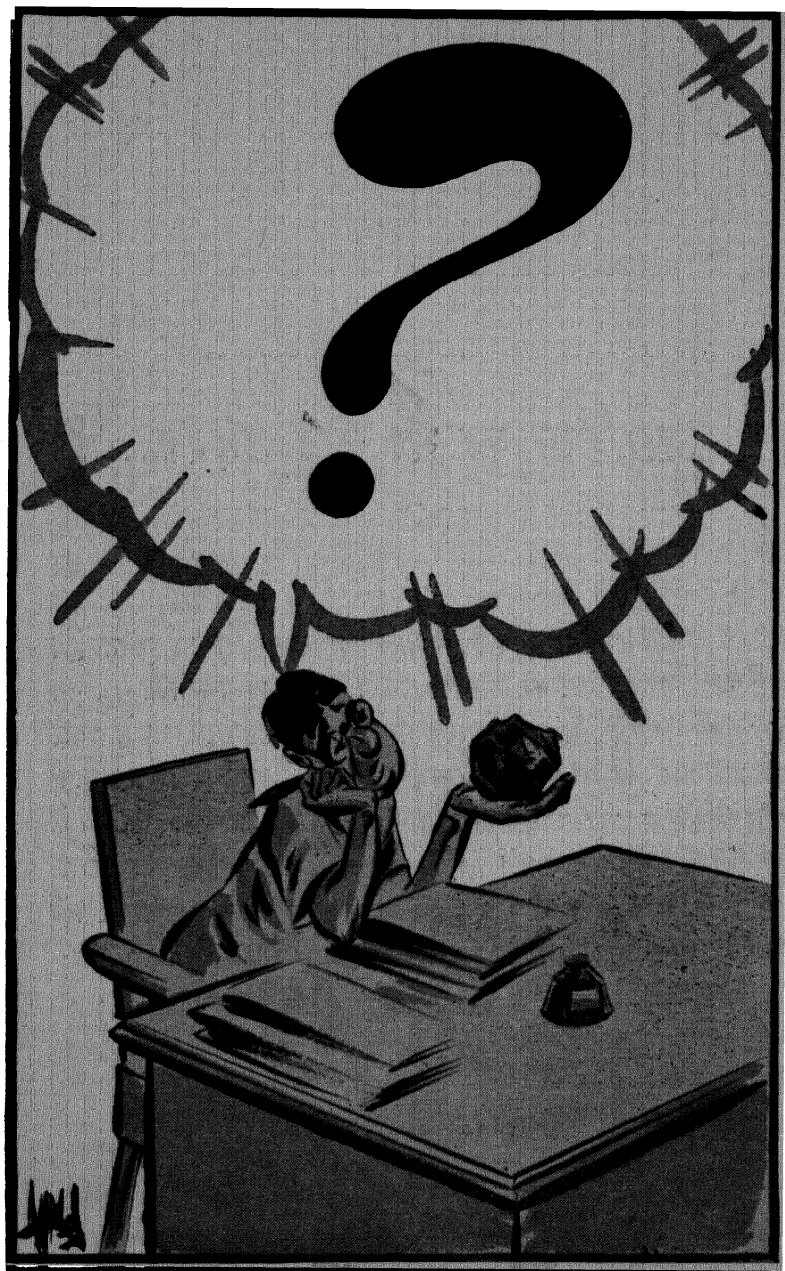
"मेरी समझ में तो कुछ नहीं आता, अब आप ही बताइए
कि साहित्य का उद्देश्य क्या होता है ?"

१४

साहित्य का भी क्या कोई उद्देश्य होता है ? मेरी समझ में तो अभी तक कुछ नहीं आया। पर होता अवश्य होगा। क्योंकि अगर सचमुच कोई उद्देश्य नहीं होता, तो तारों-भरी रात की मादक मदहोशी में जब संसार सुख की नींद में बेसुध पड़ा रहता है, ये कवि लोग जलती आँखों से चन्द्रमा को न ताका करते, तारों से तार न मिलाया करते, वायु की सिसकियां न सुना करते और अकारण ही ये बुद्धिमान अपने देश, नगर, मुहल्ले और पड़ौस क्या, पास लेटी चंद्रमुखी पत्नी को भूलकर कभी चाँदनी की याद न करते, कभी निशा की साड़ी न खींचते, कभी स्वर्गंगा में विहार न करते और कभी उषा के अरुणिम कपोलों पर उनकी ललचाई नजरें न फिसलतीं !

उद्देश्य न होता तो क्या कहानीकार स्वयं अपनी कहानी को भूलकर बस के स्टैंडों, कॉफी हाउसों, क्लबों, नाचघरों और वेश्यालयों तक में दौड़-दौड़कर बार-बार पहुँचते ? आवारों की तरह बाज़ारों में घूमते ? पार्कों में फिरते ? प्लेटफार्मों पर ताकते ? गलियों को नापते ? खिड़कियों से झाँकते ?

उद्देश्य न होता तो यों आज के नाटककार वर्तमान को भूलकर भूत का नाटक रचा करते ? भविष्य के पर्दे उठाया करते ? उपन्यास-कार इस काग़ज़ की तंगी के ज़माने में भी पोथे-पर-पोथे रचते-विरचते चले जाते ?

उद्देश्य न होता तो आलोचक इतना गला क्यों फाड़ते ? साहित्य क्यों छपता ? क्यों बिकता ?

सचमुच कुछ-न-कुछ उद्देश्य तो साहित्य का होना ही चाहिए।

पर सच बताऊँ, अब तक इसका उद्देश्य मेरी समझ में नहीं आया ? यों मेरी साहित्य की साधना किसीसे कम नहीं है। अपने साहित्यिक जीवन के प्रवेश की रजत जयंती मनाने में अब केवल ५ वर्ष की ही देर बाकी है। इस बीच मैंने यह नहीं कि सिर्फ दिल्ली में रहकर भाड़ ही भूंजा हो—स्कूलों के नोट्स और किताबों की कुंजी से लेकर साहित्य और दर्शन पर बड़े-बड़े ग्रंथों को जन्म दिया है ! स्फुट कविताएं लिखी हैं, खंड काव्य छपाए हैं, गल्प लिखी हैं, नाटक लिखे हैं, और उपन्यास लिख रहा हूँ। टनों काग़ज़, प्रकाशक लोग, मेरी कृत्तियों पर अब तक गला चुके हैं। और यह भी नहीं कि पुस्तकें छप कर ही रह गई हों। वे बिकी हैं। उनके संस्करण भी हुए हैं। जनता ने उन्हें किस हद तक पसंद किया है, यह तो मैं नहीं जानता, मगर समालोचकों के शानदार सर्टिफिकेट उन्हें अवश्य प्राप्त होगये हैं !

लेकिन अगर आप मुझसे पूछें कि लिखने के पीछे मेरा क्या उद्देश्य है, तो बात आपको चाहे निराशाजनक प्रतीत हो, पर मैं आप से कुछ छिपाऊँगा नहीं।

बात यह हुई कि बचपन में पढ़ना-लिखना कुछ जम नहीं पाया, सोहबत-सोसाइटी भी नहीं मिली, स्वास्थ्य और सलीका भी नहीं था। घरवाले निकम्मा कहते थे और परिवार वाले अवारा। बाज़ार वाले विश्वास नहीं करते थे और समाज वालों से यद्यपि अभी सीधा वास्ता नहीं पड़ा था, मगर पूत के पाँव पालने में ही देखकर, पहले से ही उनके कान-पूंछ खड़े होगये थे !

अपने आपको यों चारों ओर से घिरा पाकर मैं विक्षिप्त-सा हो उठा। यह ठीक है कि मैंने हाथ-पैर नहीं फेंके, कपड़े भी नहीं फाड़े, खाना-पीना भी नहीं छोड़ा, पर हाँ, मैं बकने-बौखलाने अवश्य लगा। २४ में से १२ घंटे मेरे बड़बड़ाते बीतते। मेरी मा को विश्वास होगया कि अब बस, कपड़े फाड़ने की नौबत आने ही वाली है। लेकिन तभी अचकचाकर एक दिन देखता क्या हूँ कि मेरी इसी बड़बड़ाहट को लोग कविता कह उठे हैं ! पहले तो मैंने लोगों के इस कथन पर खुद यकीन नहीं किया, मगर जब दोस्तों से शुरू होकर उत्सवों और सभा-

सम्मेलनों तक में मेरी बेवकूफी की वाह्-वाह् होने लगी और बात-बात में मुझ पर तालियाँ पिटने लगीं तो मुझे भी आखिर अपने कवि बनने का विश्वास हो ही गया !

लेकिन फिर भी मेरी समझ में नहीं आया कि कल जब पड़ौस की किसी लड़की को मुँह उठाकर मैं देख लेता था तो मुहल्ले-भर में फुसफुसाहट फैल जाया करती थी, लेकिन आज जब भरी सभा में अपने प्रेम का इज़हार, अपने दिल का दर्द, अपने अरमानों की दुनिया और अपनी आकांक्षाओं के स्वप्न खुले-से-खुले शब्दों में बेधड़क होकर सुनाता रहता हूँ, मगर क्या मजाल कि लोग फुसफुसायें, अंगुली उठायें या विरोध करें, उलटे मस्त हो-होकर झूमते रहते हैं। वाह्-वाह् के सिवाय उनके मुँह से कुछ निकलता ही नहीं, तब मैंने सोच लिया कि यह धन्धा भी कुछ बुरा नहीं है और मैं कवि बन बैठा !

बाद में तो रामकृपा से लड़ाई छिड़ी, लोगों ने रुपया कमाया। बड़े-बड़े कवि-सम्मेलन हुए। ब्लैक मार्केट के उन रुपयों में मेरा भी साझा हुआ !

मैंने कहा, मेरी कविता बड़बड़ाहट से शुरू हुई, वाह-वाह से विकसित हुई और चाँदी पाकर फूली-फूली है ! अगर साहित्य का यही उद्देश्य हो तो मुझे कुछ नहीं कहना। मगर मैं जानता हूँ कि जैसे साहित्य के बड़े-बड़े खुले-छूटे सांड मुझे कवि नहीं मानते, वैसे ही वे मेरे इस उद्देश्य से भी सहमत नहीं हो सकते।

खैर, न मानें वे, लेकिन जहाँ तक मेरा संबंध है मैं माल 'आर्डर' पर 'सप्लाई' करता हूँ। मैंने लेख-कहानियाँ पत्रों की माँग पर लिखे हैं, नाटक परीक्षाओं में लगने के लिए तैयार किये हैं, समालोचनात्मक ग्रंथ बिकने को प्रस्तुत किये हैं और उपन्यास अब 'आर्डर' पर रच रहा हूँ। लिखने से पहले प्रकाशक खोजना और लिखने के बाद रायल्टी का सही-सही हिसाब लेना—मेरे साहित्य के तो यही दो पवित्र उद्देश्य हैं। लिखते समय भी पात्र, कथानक और चरित्र-चित्रण के बजाय मेरा ध्यान प्रकाशक या संपादक की चाह और उसकी निर्धारित की हुई पृष्ठ-

संख्या और उस संस्था की ओर ही अधिक रहता है जो उसे छाप रही होती है या जहाँ के लिए वह छपाई जारही होती है।

अपनी नई रचनाएं मैं इसलिए नहीं लिखता कि समय-असमय मुझे लिखने के 'फिट' आया करते हैं। अक्सर मैं योजना बनाकर चीजें लिखा करता हूँ। उदाहरण के लिए एक प्रगतिशील कहानी 'हंस' को, तो एक रोमांचक गप्प 'माया' को। एक सामयिक कविता 'हिन्दुस्तान' को, तो एक अति शाश्वत एकांकी 'नया समाज' को। बाकी गड्ड का माल 'सरस्वती' को, 'माधुरी' को और 'विशाल भारत' को। अब यह नहीं हो सकता कि प्रगतिशील रचना के 'टर्न' पर रोमांटिक चीज़ लिखी जाय, या 'हिन्दुस्तान' की रचना में गाँधीजी का ज़िक्र न हो और 'सैनिक' में रचना भेजते समय साधु शब्दों के प्रयोग की गलती की जाय।

हर होली, दिवाली, दशहरा, दुर्गापूजा, श्रावणी, जन्माष्टमी, ६ अगस्त, १५ अगस्त, २ अक्तूबर, २६ जनवरी और ३० जनवरी पर १५ दिन पहले मेरी तड़फती हुई रचना तैयार रहती है। अच्छे कहे जाने वाले पत्रों का कोई विशेषांक, अच्छे समझे जाने वाले प्रकाशक की कोई दूकान, अच्छे कहे जाने वाले पाठक का कोई घर, मेरी कृति से खाली न रहे—इससे अधिक, कम-से-कम मेरे साहित्य का तो कोई और उद्देश्य है नहीं।

यह नहीं कि मेरे मत के भाई-बन्दों की हिन्दी में कोई कमी हो। अगर कांग्रेस का पार्लियामेंटरी बोर्ड, चुनाव का टिकट देते समय इस बात को कहीं गुण घोषित करदे, तो देखिए कि कितना लम्बा 'क्यू' लगता है। मगर क्योंकि अपने गुणों को हम स्वयं अपने मुँह से कहने में सकुचाते हैं, इसलिए हम लोग प्रकट में अल्पमत में दिखाई देरहे हैं और लोग हमारे परोक्ष में न जाने साहित्य के क्या-क्या उद्देश्य सिद्ध किया करते हैं।

साहित्य को लक्ष्मी की झंकार न कहकर, बावले मनोवेगों की झंकार कहते हैं। सीधे स्वहित की साधना न मानकर, उसे लोकहित का साधन बताते हैं। साहित्य को भौतिक सत्वों में सहायक न समझ कर उसे लोकोत्तर आनन्द का दाता समझ बैठे हैं! क्या समझ है इन समालोचकों की कि जो मन की विकृति से, मस्तिष्क की अस्वस्थता से

और शारीरिक ह्रास और त्रास से जन्म लेता है, उसे मानवता का उद्धारक समझ बैठे हैं !

साहित्य और मानवता का भी कोई सम्बन्ध है, यह मैं आज तक नहीं समझ सका ? मैं पूछता हूँ कि विरह-प्रपीड़ित यक्ष ने बादलों द्वारा अपनी प्रियतमा को सन्देश भेजकर मानवता का क्या कल्याण किया ? दुष्यन्त ने कण्व के आश्रम की शकुन्तला से विवाह करके मनुष्य जाति पर कौन-सी कृपा की ? राम ने अकेली अपनी सीता को पाने के लिए करोड़ों नर-वानरों को कटवा दिया, सोने की लंका को उजाड़ फेंका, क्या यही वाल्मीकि और तुलसीदास की मनुष्यता थी ? कृष्ण ने भारत-भर के तेजस्वी वीरों को लड़ा-लड़ाकर मरवा डाला, क्या व्यासजी के साधुओं का परित्राण इसी प्रकार हो सकता था ?

तीन पैंड वृन्दावन से मथुरा और चंडीदास, विद्यापति एवं सूरदास बेचारी राधा को रुला-रुलाकर मारते रहे, गोपियों को जीवन-भर तरसाते रहे और उनके प्रशंसक मानवता की इस निर्मम हत्या पर वाह-वाह करते रहे ! अच्छा हुआ कि इन महानुभावों की परिपाटी आगे नहीं चली और आजकल के 'सिनेमिआई' कलाकारों ने उस भूल का परिमार्जन भी कर दिया। आप देखते नहीं कैसे आसानी से सिनेमा में आज के नायक-नायिका साइकिल ऐक्सीडैंट से आसानी से मिल जाते हैं ! घर-समाज सबको तिलाञ्जलि देकर अपनी प्रेम की नैया को खुद ही खे चलते हैं ! 'इन्टरवल' के बाद थोड़े-से विघ्न आते हैं, मगर शीघ्र ही या तो अदालत के कटघरे, या किसी के क्षणिक आँसुओं से उनका शमन होजाता है और 'चट्ट मंगनी पट्ट व्याह' की शहनाई बजने लगती है !

अब बताइए साहित्य का उद्देश्य यह होना चाहिए या वह ? मनुष्यता इसमें है या उसमें ? मनोवेग इसमें अधिक झंकृत होते हैं या उसमें ? कहिए "लारलप्पा" अधिक गाया जाता है या "मो-सम कौन कुटिल खल कामी" ? बताइए साहित्य अल्पमत के कुछ ठूँठ पण्डितों के लिए है, या स्वतन्त्र भारत के, कोटि-कोटि संवेदनशील युवक-युवतियों के लिए ? मेरी समझ में तो कुछ भी नहीं आता। अब आप ही बताइए कि साहित्य का उद्देश्य क्या होना चाहिए ?

पत्रकार की पहचान....!

"उसकी भेदती-कुरेदती-सी आँखें, पन्ने-चौकन्ने-से कान, मोर के पंजों-सी छितरी हुई लंबी-लंबी अंगुलियाँ और ख़म खाई हुई रीढ़ की हड्डी दूर से ही पुकार-पुकार कहती है—अरे, बचो, मैं पत्रकार हूँ!"

"....कि तभी एक दिन एक टूटी-सी बिल्डिग के एक छोटे-से द्वार के बगल में एक नोटिस-बोर्ड दिखाई दिया। लिखा था—पत्रकार चाहिए!"

१४

मूर्खों के समाज में चाहे पंडित को न पहचाना जा सके और चाहे पंडितों के समाज में मूर्ख की पहचान न हो, लेकिन आजकल के सभ्य समाज में पत्रकार चाहे जैसे कपड़े पहनकर आये, उसे पहचानने में कोई गलतफहमी नहीं हो सकती।

मुँह खुलने पर तो बछड़े से लेकर बड़े-बड़ों तक की पहचान होजाया करती है, लेकिन यह जो पत्रकार नाम का प्राणी है उसे आँख, कान, नाक, हाथ की अंगुलियों और रीढ़ की हड्डी से अंधेरे में ही भाँप लिया जा सकता है।

उसकी भेदती-कुरेदती-सी आँखें, पन्ने-चौकन्ने-से कान, मोर के पंजों-सी छितरी हुई लंबी-लंबी अंगुलियाँ और ख़म खाई हुई रीढ़ की हड्डी दूर से ही पुकार-पुकार कहती है—अरे, बचो, मैं पत्रकार हूँ।

जो दुनिया की खबर रखता हो, मगर जिसे खुद अपनी, अपने घर की, घरवाली की—कोई खोज-खबर न हो; जो दुनिया की खबर लेता हो, मगर खुद उसकी खबर लेने वाला दुनिया में कोई न हो; जिसके पास न अपना पत्र हो न अपनी कार हो, मगर फिर भी जो पत्रकार कहलाता हो—उसे तो सूझता क्या, अन्धा भी दूर से ही पहचान सकता है।

कवियों के संबंध में जो यह कहावत है कि वे जन्मजात होते हैं, बनाये नहीं जा सकते, उसे तो इस नई जनगणना में, कवियों की महती जनसंख्या ने ग़लत सिद्ध कर दिया है, लेकिन, पत्रकार जन्म से ही पत्रकार होते हैं, यह बात एकदम सच है।

बचपन में जो बालक सबसे अधिक दंगा करता हो, निर्भय

गालियाँ बकता हो, दिन-भर घर से बाहर घूमता हो, पिता जी की फटकार और मास्टर की मार का भी जिसे बिल्कुल भय न हो तो एकदम समझ लेना चाहिए कि बस, लड़का पत्रकार बनकर रहेगा।

यह भविष्यवाणी १०० में ६६ जगह सही उतरेगी। एक प्रतिशत गलती की संभावना सिर्फ तभी हो सकती है, जब कि ऐसा संस्कारी बालक १६ वर्ष से भी कम की उम्र में किसी लड़की को, बिना सूचित किये ही, प्रेम कर उठे और सूचित होने पर वह लड़की उसे दुत्कार दे, तो समझ लीजिए कि लड़का हाथ से गया, यानी अब पत्रकार नहीं बन सकता—इस कम्बख्त के कर्म में तो केवल कवि होना ही लिखा है!

यद्यपि न मुझे शुद्ध हिन्दी आती है, न अंग्रेजी। न बी० ए० हूँ, न विद्यालंकार। एक-एक करके १७ पत्रों को छोड़ने के अतिरिक्त कोई सनद और डिप्लोमा भी मेरे पास नहीं है, सठियाने में भी अभी पूरी एक रजत जयन्ती बाकी है, मालिकों की या मजदूरों की किसी यूनियन से भी मेरा कोई संबंध नहीं है, फिर भी मैं पत्रकार हूँ! क्या आप मेरे पत्रकार बनने की कहानी सुनिएगा?

मैं पत्रकार कैसे बना?

मैं पत्रकार कैसे बना, इसकी कहानी भी कम रोचक नहीं है। वह इस कदर प्रगतिशील है कि मास्को वाले भी उस पर गर्व कर सकते हैं। बेकार लोग उसमें से सार-ग्रहण कर सकें, इसलिए उसे यहाँ दे रहा हूँ:—

बात यह हुई कि बचपन में मैं बेहद शैतान था। घर से स्कूल की कह जाता और दिन-भर गलियों में गिल्ली-डंडा उड़ाकर ठीक चार बजे घर वापस लौट आता। इम्तिहान के दिनों में बीमार बन जाता और छुट्टियों के दिनों में छुट्टा फिरा करता। बीस वर्ष की अवस्था में खरामा-खरामा आराम से १०वें दर्जे तक तो पहुँच गया, लेकिन १०वें की देहली उलांघने का पर्रामट लाख हनुमान चालीसा पढ़ने और शिवजी पर रोज शाम को दीपक जलाने के बाद भी नहीं मिला। जब एक, दो, तीन और लगातार चार साल तक की कड़ी नाकेबंदी के बाद भी मैट्रिक का मोर्चा सफल होता दिखाई नहीं दिया और ब्रह्मचर्य

पालन करने की अवधि भी शनैः शनैः समाप्त होने लगी तो मैं सफलतापूर्वक मोर्चे से वापस हट आया !

अब सवाल हुआ कि क्या किया जाय ? कुछ दिन का समय तो घरवालों ने सेहत सुधारने के लिए सुविधापूर्वक प्रदान कर दिया, लेकिन जैसे ही गधा-पच्चीसी समाप्त हुई (पच्चीस वर्ष की उम्र पूरी हुई) उन्होंने साफ कह दिया कि बेटे, अब तुम जानो और तुम्हारा काम। जाओ, कमाओ-खाओ, मौज करो !

तब मैंने क्लर्की से लेकर ट्यूशनों तक की तलाश में गली-बाजारों के चक्कर लगाना प्रारम्भ कर दिया। जब उसपर कोई राजी नहीं हुआ तो बजाज से लेकर हलवाई तक की दूकान पर नौकरी के लिए लोगों से अभ्यर्थना की। मगर कोई मुझे अधिक बुद्धिमान बताकर इन्कार कर देता और कोई कमअक्ल कहकर दरवाजा दिखा देता। कोई कहता कि काम करने की तुम्हारी उम्र निकल गई और कोई कहता कि जाओ फिर से पाठशाला में भरती हो जाओ !

शुरू-शुरू में कुछ दिनों तक तो माताजी धोबी की धुलाई, ठोड़ी की छिलाई और हाथ-खर्च के लिए चुपके-चुपके कुछ पैसे देती रहीं, मगर जब उनके धैर्य ने भी जवाब दे दिया और बाजार से परिवार के नाम पर उधार मिलना भी बन्द होगया तो हमने सोचा कि इस झूंठी कुल की लाज-शर्म में क्या लोगे ? और एक दिन हिम्मत करके पान-बीड़ी का खौंमचा लगाना प्रारम्भ कर ही तो दिया !

मेरे इस परम प्रगतिशील कार्य से जबकि मेरे कुल वालों का मस्तक गर्व से ऊँचा उठना चाहिए था, शर्म से नीचे झुक गया ! उनकी नाक बढ़ती नहीं तो कम-से-कम स्थिर तो रहनी ही चाहिए थी, मगर उनके कहने से मालूम हुआ कि वह कुछ छोटी होने लगी है। जो भी हो, मुझे यह पेशा छोड़ने के लिए मजबूर किया जाने लगा, पर मैं टस-से-मस नहीं हुआ।

और क्यों होता ? ६-७ घंटे की फेरी से न केवल मेरा हाथ-खर्च ही सीधा होने लगा, वरन् मेरे वायल के कुर्ते की जेब में हर रोज सिनेमा के लिए पैसे भी आ जुटने लगे !

पान-बीड़ी के खौंमचे से सबसे बड़ा लाभ तो यह हुआ कि मुझ

में भी अब आत्म-विश्वास जगने लगा। मैं, जो अब तक बड़ों से बातें करते सकुचाता था, अब उनसे बहस करने लगा। मैं जो मूर्खों के समुदाय का ही एक विशिष्ट सदस्य अब तक समझा जाता था, अब उन्हें उपदेश देने लगा। पान-बीड़ी के प्रताप से मेरी पहुँच तांगे वालों से लेकर कोठी वालों तक हो गई। स्कूल के चपरासी से लेकर दरोगा जी तक को मैं सलाम करने लगा। जैसे मेरी बीड़ियाँ जनता के हर वर्ग के मुंह लगी थीं, वैसे ही जनता के हर वर्ग की चर्चा मेरे मुंह लग उठी।

विचारशून्य इस मस्तिष्क में अब भाँति-भाँति के विचार उठने लगे। मैं पनवाड़ी की दूकान से लेकर होटल चलाने तक के स्वप्न देखने लगा, पर तत्काल ही एक दिन एक शहरी नेता को बीड़ी-बंडल बेचते-बेचते मेरे मन में ज्ञान का उदय हुआ। मन में सोचा कि दुनिया में दौलत तो सब कमाते हैं, तुम्हें तो कोई जन-सेवा का मार्ग अपनाना चाहिए! मैंने चुंगी की मेम्बरी से लेकर असेम्बली की 'एमेलेगीरी' तक की बाबत गौर से विचार किया। यह भी सोचा कि कांग्रेस में जगह न हो तो सोशलिस्ट पार्टी में ही घुस पड़ूं। साल दो साल में अपनी-पराई सेवा के द्वार खुल ही जाएंगे। लेकिन मन कहीं स्थिर नहीं हो पारहा था।

कि तभी एक दिन, एक टूटी-सी बिल्डिंग के छोटे-से द्वार के बगल में एक नोटिस-बोर्ड दिखाई दिया। लिखा था—"पत्रकार चाहिए।" जैसे भगवान बुद्ध को अक्षयवट के नीचे एक दिन मुक्ति का रहस्य एकाएक ज्ञात हुआ था, जैसे गांधीजी के समक्ष एक रात एकाएक असहयोग का अस्त्र प्रकट होगया था और जैसे सैंकड़ों वर्ष के गुलाम भारत को एक दिन एकाएक आजादी मिल गई थी, ठीक वैसे ही मेरी सफलता का ताला जो वर्षों से बन्द था, एकाएक आज उसकी ताली मुझे मिल गई!

आव देखा न ताव, अपना पान-बीड़ी का पल्ला रास्ता चलते एक भाई को टिका, मैं एक सांस में बिल्डिंग की २७ सीढ़ियां खटाखट पार कर गया और चपरासी की हें-हें की परवाह न करता हुआ सीधा मैनेजर के सामने जा दन्नाया!

मैनेजर ने प्रश्न-सूचक सिर ऊपर उठाया।

मैंने कहा, "पत्रकार बनने की तमन्ना है।"

पूछा, "अब तक क्या करते रहे हो?"

कहा, "केवल ज्ञान-संचय।"

पूछा, "क्या मतलब?"

"यही कि जनता के प्रत्येक वर्ग से, उसकी समस्याओं से सीधी जानकारी है।"

"पढ़ाई-लिखाई कितनी हुई है?"

कहा, "पच्चीस साल तक सब-कुछ छोड़कर पढ़ता ही रहा हूँ। हाँ, डिग्रियों का मोह कभी नहीं किया। हिन्दी-अंग्रेजी लिख-पढ़ लेता हूँ, उर्दू-फारसी बोल-समझ लेता हूँ, पंजाबियों का पड़ौस है, मदरासियों से दोस्ती है।"

प्रश्न हुआ, "वेतन कितना लोगे?"

तो कहा, "मैं इस लाइन में वेतन के लिए नहीं आरहा, जो दे दोगे, ले लूंगा।"

हुक्म हुआ, "जाओ, आज से ही काम करो। तुम्हें 'सिटी रिपोर्टर' बनाया। दिन-भर घूमो और शाम को खबरें लाकर मुझे दिखाना।"

भला इस काम में मैं कभी असफल हो सकता था? सास-बहू की लड़ाई से लेकर तांगा-मोटर भिड़न्त तक के समाचार रंग-रंग कर देने लगा और वे बड़े-बड़े शीर्षकों से अखबार में बाहर-भीतर छपने लगे!

शुरू-शुरू में सहकारी सम्पादकों के दल मुझ नौसिखिए अजनवी को देखकर काटने दौड़े, मगर मेरे स्वस्थ शरीर और मेरे गले में मैनेजर का पट्टा देखकर वे गुर्राकर ही रह गये! धीरे-धीरे पटरी बैठ गई।

अब मैंने तांगा-मोटर-भिड़न्त को छोड़कर युवतियों के भागने और ग़बन के भण्डाफोड़ों में दिलचस्पी ली। दस-पांच मामले ऐसे छापे कि शहर में खलबली मच गई, अखबार की बिक्री चौगुनी होगई और नगर का प्रतिष्ठित समाज मुझसे भय खाने लगा!

तब मैंने एक नई रीति अपनाई। लिखता कि आज अमुक बाजार के एक प्रतिष्ठित सेठ के यहां की भयंकर खबर हमारे पास आई है। उसका पूरा विवरण कल के अंक में पढ़िएगा। अखबार हाथ में आते ही सेठ की फूंक सरक जाती। लोगों में चर्चा फैलती, सौदा होता और १०० में से ५० मामले दब जाते। इसमें मैनेजर की भी पत्ती रहती।

धीरे-धीरे मैं सिटी रिपोर्टर से विशेष सम्वाददाता हुआ और फिर विशेष प्रतिनिधि। एक पत्र से दूसरे में गया और दूसरे से तीसरे, चौथे और पांचवें में। कांग्रेसी अखबार में कांग्रेस के गुण गाता और महासभाई पत्र में पहुँचता तो कांग्रेस को डटकर कोसता। सेठों के अखबार में जाता तो हड़तालों की निन्दा करता और सोशलिस्टों के अखबारोंमें मजदूरों को हड़ताल के लिए उकसाता। यही नहीं एक ही अखबार में एक ही कलम से मैं अग्रलेख में सरकार का समर्थन करता और समाचार में उसकी कलई खोलता। इन्हीं गुणों के कारण पत्रकार मुझे महान मानने लगे, सरकारी अधिकारियों में मेरा सम्मान होने लगा और सेठों की मोटरें मेरे दरवाज़े पर खड़ी रहने लगीं। दुनिया भूल गई कि मैं पान-बीड़ी-फरोश हूँ।

अभी कुछ दिन हुए पत्रकारों ने मेरी जयंती मनाई थी। उस अवसर पर जो मैंने महान् भाषण दिया था, उसके कुछ ऐतिहासिक स्थल आपके ज्ञान-वर्द्धन के लिए यहाँ लिख रहा हूँ:—

"भाइयो और बहनो!

आज की दुनिया में 'प्रेस' का कितना महत्व है यह आप जानते ही हैं। दुनिया की व्यवस्था, उसकी शांति और समृद्धि 'प्रेस' पर ही निर्भर है। इस 'प्रेस' की नीव पत्रकारों पर, यानी हम पर खड़ी है। अगर हम आदर्शवान है तो दुनिया आदर्शों पर स्थिर रहेगी और यदि हम डिग गये-तो दुनिया गिर पड़ेगी।

मुझे बड़े खेद के साथ कहना पड़ता है कि आज के पत्रकारों में वह आदर्शवादिता, वह सेवा भावना और वह तत्परता नहीं रही, जैसी कि तब थी जब कि हम लोगों ने इस लाइन में कार्य प्रारम्भ किया था।

आज हम लोग वेतनों के बढ़वाने में, सुविधाओं के प्राप्त करने में तो यत्नशील हैं, पर पत्रकारिता के आदर्श, त्याग और निष्काम कर्म की भावना के उपदेश को बिल्कुल भुला बैठे हैं।

आप नहीं जानते कि पत्रकार समाज की आँख होते हैं। वे विराट् प्रजा की वाणी होते हैं। सच्चे अर्थों में पत्रकार ही आज ब्राह्मण हैं। आज प्रातःकाल उठते ही भगवद् मंत्रों का उच्चारण नहीं होता हमारे पत्रों का पारायण होता है। प्राचीन ऋषि-मुनियों के समान ही प्रत्येक विषय पर हम अपनी व्यवस्था देते हैं। प्राचीन पुरोहितों के समान ही हम राज्यों का संरक्षण करते हैं और प्राचीन कौटिल्यों के समान ही हम साम्राज्यों को उखाड़ फेंकते हैं।

हे ऋषिपुत्रो, हे नवयुग के तपस्वियो, उठो और अपने धर्म को धारण करो!"

पर यह तो कहने की बात हुई। मैंने इधर अपनी कोठी बनवा ली है, कार के लिए आर्डर दे दिया है और निकट भविष्य में अपना स्वयं का पत्र निकालकर मैं शाब्दिक अर्थों में भी अब पत्रकार बन जाने वाला हूँ। जय हिन्द!